श्रावकाचार का स्वरूप

विश्व का प्रत्येक संसारी प्राणी सुख चाहता है और दुःख से डरता है, परन्तु वह कार्य ऐसे करता है जिससे सुख प्राप्त होना तो दूर, सुख से दूर और चला जाता है। प्रत्येक प्राणी, पाँच इन्द्रिय के विषयों की चाह से दुःखी है और वह चाह, दाह को उत्पन्न करती है, इसी चाह को सीमित करने का नाम व्रत है क्योंकि असंयमित जीवन को बिना ब्रेक की गाड़ी कहा है। जब तक इन भोगों की इच्छाओं पर ब्रेक नहीं लगेगा, तब तक जीवन में अहिंसा व्रत का प्रारम्भ भी नहीं होगा; अतः सुखी होने के लिए अपनी और पर की दया का पालन अवश्य करना चाहिए। इन्द्रिय और विषय.कषाय के निग्रह से जीवन जीने की कला का उद्‌घाटन होता है। जिस प्रकार चन्दन के बाग की महक, खुशबु और शान्तिदायक होती है; उसी प्रकार व्रतरूपी उद्यान से स्वयं का जीवन, सुख और शान्तिमय तो होता ही है, उसकी महक से परिवार, कुटुम्ब, समाज, देश और समस्त विश्व भी लाभान्वित होता है।

''यद्यपि मोक्ष.प्राप्ति का साक्षात् मार्ग मुनिधर्म ही है किन्तु जो व्यक्ति, मुनिधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ होते हुए भी उसे जीवन.व्रत बनाने में अनुराग रखते हैं, वे गृहस्थ.धर्म के अधिकारी माने गये हैं। मुनि. धर्म उत्सर्ग मार्ग है और गृहस्थ.धर्म अपवाद मार्ग है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ.धर्म से भी आंशिक आत्म.शुद्धि और स्वावलम्बन की शिक्षा मिलती है; इसलिए यह भी मोक्ष का मार्ग माना गया है।

जो मुनि.धर्म या गृहस्थ.धर्म को स्वीकार करता है, उसको पाँच परमेष्ठी और जिनदेव द्वारा प्रतिपादित शास्त्र में अवश्य श्रद्धा होती है। वह अन्य किसी को मोक्ष.प्राप्ति में साधक नहीं मानता, इसलिए आत्म.शुद्धि की दृष्टि से इनके सिवा अन्य किसी की वन्दना और स्तुति आदि नहीं करता तथा उन स्थानों को आयतन भी नहीं मानता, जहाँ न तो मोक्षमार्ग की शिक्षा मिलती है और न मोक्षमार्ग के उपयुक्त साधन ही उपलब्ध होते हैं।

यद्यपि लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए दूसरे का आदर.सत्कार करना अन्य बात है। वह जानता है कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिए शरीर, उसकी सुन्दरता और उसके बल का अहंकार नहीं करता। धन, ऐश्वर्य, कुल और जाति – ये या तो माता.पिता के निमित्त से प्राप्त होते हैं या प्रयत्न से प्राप्त होते हैं; अतः ये आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकते, इसलिए वह इनका अहंकार नहीं करता। ज्ञान और तप – ये समीचीन भी होते हैं और असमीचीन भी होते हैं। जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त होती है, उसके ये कभी असमीचीन हो ही नहीं सकते, इसलिए वह इन्हें मोक्षमार्ग का प्रयोजक जान कर, इनका भी अहंकार नहीं करता। धर्म तो आत्मा का निज स्वरूप है – यह वह जानता है, इसलिए अपनी खोयी हुई निधि को प्राप्त करने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है।'' पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रस्तावना, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृष्ठ 18

श्रावक के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार द्रष्टव्य हैं –

1. विवेकवान विरक्त.चित्त अणुव्रती गृहस्थ को **श्रावक** कहते हैं – यह पंचम गुणस्थानवर्ती होता है।
2. **श्रावक** का स्वरूप बताते हुए पण्डित सदासुखदासजी कहते हैं – जो स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि परिग्रह सहित घर में निवास करते हैं, जिन.वचनों के श्रद्धानी हैं, न्यायमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं, पापों से भयभीत हैं; वे गृहस्थ **श्रावक** हैं। **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका**, 3/50
3. सागार धर्मामृत में कहा है कि जो श्रद्धापूर्वक गुरु आदि से धर्म.श्रवण करता है, वह **श्रावक** है और जो पंच परमेष्ठी की भक्ति करने वाला, दान.पूजन करने वाला भेदज्ञानरूपी अमृत को पीने का इच्छुक तथा मूलगुणों और उत्तरगुणों को पालन करने वाला है, वह व्यक्ति **श्रावक** कहलाता है।

पण्डित आशाधर, **सागार धर्मामृत** एवं स्वोपज्ञ टीका, 1/15

4. डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य के अनुसार **श्रावक** शब्द, श्र, व और क – इन तीन वर्णों के संयोग से बना है, इन तीन वर्णों के क्रमशः तीन अर्थ हैं – श्रद्धालु, विवेकी और क्रियावान। जिनमें इन तीन गुणों का समावेश पाया जाता है, वह **श्रावक** है।

जैन नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1),** पृष्ठ 509–510,

5. व्रतधारी गृहस्थ को **श्रावक**, उपासक और सागार आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनियों के प्रवचनों का श्रवण करता है, अतः यह श्राद्ध अर्थात् श्रद्धान करने वाला या **श्रावक** कहलाता है।
6. जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से इष्ट स्त्री आदि विषयों को न सेवने योग्य जानते हुए भी जो प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोह के तीव्र उदय के कारण त्यागने में असमर्थ हैं, उन्हें धर्माचार्य गृहस्थ धर्म पालने की अनुज्ञा देते हैं।.....विशेष यह है कि जो अनन्तानुबन्धी कषाय से परतन्त्र होते हैं, वे तो विषयों को सेवनीय ही मानते हैं, वे तो मिथ्यादृष्टि होते हैं; उनकी यहाँ बात नहीं है। जो उस (मिथ्यात्व) से छूट कर यह तो दृढ़ आस्था रखते हैं कि ये सेवनीय नहीं हैं, किन्तु उन्हें छोड़ने में असमर्थ होते हैं; अतः वे यह नियम करते हैं कि मैं एकदेश विरति को अर्थात् श्रावक के आचार को पालूँगा, तब आचार्य उन्हें उसकी अनुज्ञा देते हैं।

श्रावक के भेद

1. चारित्रसार के अनुसार श्रावक के योग्य कार्यों के तीन भेद हैं – 1. पक्ष, 2. चर्या और 3. साधकपना।
2. श्रावक के आचार का वर्गीकरण करने में प्रमुख तीन अपेक्षाओं से विचार किया जाता है – **अ.** द्वादश व्रत, **ब.** एकादश प्रतिमाएँ, एवं **स.** पक्ष, चर्या और साधन।

तीर्थंकर महावीर और आचार्य परम्परा, भाग 1, पृष्ठ 509–510

3. पंचाध्यायी में श्रावक के तीन भेद आते हैं – 1. पाक्षिक, 2. गूढ और 3. नैष्ठिक अथवा साधक।

पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, 725

4. सागार धर्मामृत के अनुसार तीन भेद हैं – 1. पाक्षिक, 2. नैष्ठिक और 3. साधक।

सागार धर्मामृत, 1/20**,** सागार धर्मामृत, द्वितीय अध्याय, श्लोक 2

पक्ष, चर्या और साधन एवं तदनुसार पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक श्रावक का स्वरूप बताते हुए पण्डित आशाधरजी लिखते हैं –

''मैं धर्म के लिए, देवता के लिए, मन्त्रसिद्धि के लिए, औषध के लिए और आहार के लिए प्राणिघात नहीं करूँगा – ऐसी प्रतिज्ञा करके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना से वृद्धि को प्राप्त असत्य आदि से सहित हिंसा को त्यागना पक्ष है। पक्ष संस्कार के बाद प्रतिदिन वैराग्य परिणाम बढ़ने पर कृषि आदि में लगे हुए हिंसा आदि दोषों का शास्त्रोक्त विधान के द्वारा शोधन करके और पुत्र पर अपने धन, परिवार, और धर्मायतनों का भार सौंप कर, घर छोड़ना, चर्या है। पुनः लगे हुए दोषों को प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध करके अन्त में आहार, शरीर चेष्टा और शरीर का परित्याग करके निर्मल ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि करना साधन है।.....

.....जो एकदेश हिंसा.विरतिरूप श्रावक धर्म का पक्ष लेता है अर्थात् उसका पालन करना स्वीकार करता है, वह पाक्षिक श्रावक है। जो उसमें निष्ठा रखता है अर्थात् निरतिचार श्रावक धर्म का निष्ठापूर्वक निर्वाह करता है, वह नैष्ठिक श्रावक है। तथा जो अपने में समाधि लगाता है अर्थात् समाधिपूर्वक मरण साधता है, वह साधक है। विशेष यह है कि पहला भेद देशसंयम की प्रारम्भिक अवस्था को बतलाता है, दूसरा भेद उसकी मध्यम अवस्था को बतलाता है और तीसरा भेद उसकी पूर्ण दशा को बतलाता है।''

सागार धर्मामृत, पण्डित आशाधर, प्रथम अध्याय, श्लोक 19–20, हिन्दी अर्थ, पृष्ठ 37 व 39;

पाक्षिक श्रावक

जो सम्यग्दृष्टि होता हुआ सर्व प्रथम मद्य, माँस, मधु और पंच उदुम्बर फलों का त्याग करता है तथा अपनी शक्ति और सामर्थ्य को नहीं छिपाते हुए पाँच पाप का स्थूल त्याग करने का अभ्यास करता है, वह **पाक्षिक श्रावक** है क्योंकि गृहस्थपने में हिंसा का निवारण करना असम्भव होने पर भी अहिंसारूप परिणाम रखना ही पक्ष है। इस प्रकार हम कह सकते हैं –

1. जिनागम की आज्ञा का श्रद्धान करते हुए हिंसा को छोड़ने के लिए उद्यत देशसंयम की ओर उन्मुख गृहस्थ को **पाक्षिक श्रावक** कहा गया है।
2. **पाक्षिक श्रावक** को मद्य, माँस, मधु एवं पाँच उदुम्बर फलों तथा अन्य अभक्ष्य पदार्थों के साथ.साथ स्थूलरूप से पाँच पापों का त्याग भी अवश्य करना चाहिए।
3. कृष्ण, नील और कापोत – इन लेश्याओं में से किसी एक के वेग से किसी समय इन्द्रिय के विषय में उत्कण्ठित मन वाला तथा किसी मूलगुण के विषय में अतिचार लगाने वाला गृहस्थ **पाक्षिक श्रावक** कहलाता है। और देखें, **सागार धर्मामृत,** 3/4, पृष्ठ 123
4. यह श्रावक अष्ट मूलगुणों का धारी और सप्त व्यसन का त्यागी होता है।

अष्ट मूलगुणों को निश्चय.व्यवहारनय की भाषा में इस प्रकार कहा है –

निश्चय से तो समस्त परपदार्थों से दृष्टि हटा कर अपनी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता ही मुमुक्षु श्रावक के मूलगुण हैं तथा व्यवहार से मद्य.त्याग, माँस.त्याग, मधु.त्याग और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है।

अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में प्राप्त आगम.सम्मत विभिन्न मत

अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में आगम में अनेक मन्तव्य प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लेख पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, सागार धर्मामृत के श्लोक 3 के विशेषार्थ में इस प्रकार करते हैं –

1. आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य उमास्वामी ने अपने श्रावकाचार के वर्णन में मूलगुणों का कोई निर्देश नहीं किया है।
2. श्वेताम्बर साहित्य में भी श्रावकाचार के मूलगुणों की कोई चर्चा नहीं है।
3. सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्रावक के आठ मूलगुण कहे हैं, वे हैं – मद्य. माँस.मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों का पालन। **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** आचार्य समन्तभद्र, श्लोक 66
4. इन्हीं अष्ट मूलगुणों में मधु के स्थान पर जुआ का त्याग कर, मद्य.माँस और द्यूत तथा स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह का त्याग – ये अष्ट मूलगुण, चारित्रसार के निम्न श्लोक में उद्धृत हैं –

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहीणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः।।

सागार धर्मामृत, 2/3, पृष्ठ 43, 'ज्ञानदीपिका' संस्कृत पंजिका टीका; और देखें, **चारित्रसार,** पृष्ठ 62

5. महापुराण में तो व्रतावतरण क्रिया में मधु.मांस के त्याग तथा पंच उदुम्बर फलों के त्याग और हिंसादि विरति को सार्वकालिक व्रत कहा है। मूलगुण का भी नाम नहीं है। न मधु के स्थान पर जुए का ही त्याग कराया है। आगे जो पाँच अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को अष्ट मूलगुणों में लिया गया, उसका प्रारम्भ महापुराण से ही हुआ प्रतीत होता है। महापुराण, 38/122
6. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में हिंसा के त्यागी को मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ने का विधान है, किन्तु उन्हें मूलगुण शब्द से नहीं कहा है।

7. सबसे पहले पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में ही इन आठों में होने वाली हिंसा का स्पष्ट कथन मिलता है और इन्हें अनिष्ट, दुस्तर और पाप के घर कहा है तथा यह भी कहा है कि इन आठों का त्याग करने पर ही शुद्ध.बुद्धि जीव, जिनधर्म की देशना का पात्र होते हैं।
8. इसके बाद आचार्य सोमदेव ने अपने उपासकाचार में और आचार्य पद्मनन्दि ने पंचविंशतिका में स्पष्टरूप से इन आठों के त्याग को मूलगुण कहा है और उन्हीं का अनुसरण पण्डित आशाधरजी ने किया है।
9. आचार्य अमितगति ने जो आचार्य सोमदेव और पद्मनन्दि के मध्य में हुए हैं, उन्होंने अपने श्रावकाचार में इनके साथ रात्रि.भोजन का त्याग आवश्यक माना है, किन्तु उसे मूलगुण शब्द से नहीं कहा है।
10. देवसेन के भावसंग्रह में भी अष्ट मूलगुण का निर्देश है। गाथा 356
11. शिवकोटि की रत्नमाला में एक विशेषता है कि उसमें मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों को अष्ट मूलगुण कहा है तथा पाँच उदुम्बरों के त्यागवाले अष्ट मूलगुणों को बालकों के कहा है।
12. पण्डित आशाधर के उत्तरकालीन विद्वान् मेधावी ने अपने श्रावकाचार में मद्यादि तीन तथा पाँच उदुम्बर फलों के सातिचार त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है।
13. पण्डित राजमल्ल ने अपने पंचाध्यायी के उत्तरार्द्ध में आठ मूलगुणों का विशेष कथन इस प्रकार किया है कि व्रतधारी गृहस्थों के आठ मूलगुण होते हैं। कहीं.कहीं ये अव्रतियों के भी होते हैं क्योंकि ये सर्व साधारण हैं। ये आठ मूलगुण, स्वभाव से या कुलपरम्परा से चले आते हैं। इनके बिना न सम्यक्त्व होता है और न व्रत। इनके बिना जब जीव नाम से भी श्रावक नहीं हो सकता; तब पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक की तो बात ही क्या है? जिसने मद्य, मांस और मधु का और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग कर दिया है, वही नाम का जैन श्रावक है तथा त्याग न करने पर वह नाम का भी श्रावक नहीं है।

इस तरह विविध श्रावकाचारों में अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में विवेचन मिलता है।''

सागार धर्मामृत, ज्ञानदीपिका नामक संस्कृत पंजिका टीका, द्वितीय अध्याय, श्लोक 2, पृष्ठ 41.42

पाक्षिक श्रावक की दिनचर्या

दैनिक कार्यों में प्रतिदिन जिनेन्द्र.पूजन आदि करने का अभिप्राय केवल वैयावृत्त्य, दान, उपवास आदि द्वारा पुण्य.बन्ध करके स्वर्ग.सुखों की प्राप्ति करना मात्र ही नहीं है, किन्तु चित्त.वृत्ति को संसार से फेर कर, वीतरागरूप करके धर्मध्यान.शुक्लध्यान में लगा कर परमात्मपने की प्राप्ति कराना है। जिस प्रकार किसी सांसारिक कार्य को समुचित रीति से करने से वह सफल होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वसहित आत्मानुभवपूर्वक एकाग्र.चित्त करके पंच परमेष्ठी के दर्शन.पूजन.वन्दन, स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदि में प्रवृत्ति करने से मोक्ष के समान अलौकिक सुख की प्राप्ति हो सकती है – ऐसा जान कर प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि यथाशक्ति नित्य धार्मिक षट्कर्मों में प्रवृत्ति करें। इस प्रकार श्रावक अपना सर्वांगीण विकास निर्लिप्त भाव से स्वकर्तव्य का सम्पादन करते हुए घर में रह कर भी कर सकता है।

पाक्षिक श्रावक की दिनचर्या को निम्न प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं –

1. सर्व प्रथम ब्रह्ममुहूर्त में उठ कर पंच नमस्कार मन्त्र का पाठ करें तथा ऐसा विचार करे कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या धर्म है ? मेरा क्या कर्तव्य है ? आदि।
2. स्नानादि के पश्चात् जिनालय में योग्य विधिपूर्वक प्रवेश करे तथा अरहन्त आदि की पूजा.वन्दना आदि करे।
3. पश्चात् जिनवाणी का स्वाध्याय करे।

4. तत्पश्चात् गृह.सम्बन्धी कार्यों को करने से पूर्व आहार.दानादि देकर मुनिव्रत की भावनापूर्वक स्वयं भोजन करे।
5. दोपहर में भी अरहन्त भगवान की आराधना आदि के साथ तत्त्वचर्चा करे।
6. सन्ध्याकाल में भाव.पूजादि (स्तवन, वन्दना, सामायिक, चिन्तवन आदि) करके शयन करें।
7. रात्रि में निद्रा उचटने पर वैराग्य भावना का चिन्तवन करे।

श्रावक को दुःख मेटने एवं सुख की प्राप्ति हेतु प्रतिदिन करने योग्य मुख्य षट्कार्य इस प्रकार हैं –

1. **देवपूजा** – देवपूजा, शुभोपयोग का साधन है। पूज्य या अर्च्य गुणों के प्रति आत्मसमर्पण की भावना ही पूजा है। पूजा करने से शुभराग की वृद्धि होती है, पर यह शुभराग अपने 'स्व' को पहचानने में उपयोगी सिद्ध होता है। पूजा के दो भेद हैं – द्रव्यपूजा और भावपूजा। अष्ट द्रव्यों से वीतराग और सर्वज्ञदेव की पूजा करना, **द्रव्यपूजा** है और बिना द्रव्य के केवल गुणों का चिन्तन और मनन करना, **भावपूजा** है। भावपूजा में आत्मा के गुण ही आधार रहते हैं, अतः पूजक को आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। सराग वृत्ति होने पर भी पूजन द्वारा राग.द्वेष के विनाश की क्षमता उत्पन्न होती है। पूजा, सम्यग्दर्शन गुण को तो विशुद्ध करती ही है, पर वीतराग आदर्श को प्राप्त करने के लिए भी प्रेरित करती है। यह आत्मोत्थान की भूमिका है।

2. **गुरुभक्ति** – गुरु का अर्थ अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने वाला है। यह निर्ग्रन्थ, तपस्वी और आरम्भ. परिग्रहरहित होता है। जीवन में संस्कारों का प्रारम्भ गुरु.चरणों की उपासना से ही सम्भव है। इसी कारण गृहस्थ के दैनिक षट्कर्मों में गुरूपास्ति को आवश्यक माना है, यतः गुरु के पास सतत निवास करने से मन.वचन.काय की विशुद्धि स्वतः होने लगती है और वाक्.संयम, इन्द्रिय.संयम और आहार.संयम भी प्राप्त होने लगते हैं। गुरु.उपासना से प्राणी को स्व.पर.प्रत्यय की उपलब्धि होती है। अतएव गृहस्थ को प्रतिदिन गुरु.उपासन एवं गुरु.भक्ति करना आवश्यक माना गया है।

3. **स्वाध्याय** – स्वाध्याय का अर्थ स्व.आत्मा का अध्ययन.चिन्तन.मनन है। प्रतिदिन ज्ञानार्जन करने से राग के त्याग की शक्ति उपलब्ध होती है। स्वाध्याय समस्त पापों का निराकरण कर रत्नत्रय की उपलब्धि में सहायक होता है। बुद्धिबल और आत्मबल का विकास स्वाध्याय द्वारा होता है। स्वाध्याय द्वारा संस्कारों में परिणाम.विशुद्धि होती है और परिणाम.विशुद्धि ही महाफलदायक है। मन को स्थिर करने की दिव्यौषधि स्वाध्याय ही है। हेय उपादेय और ज्ञेय की जानकारी का साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय वह पीयूष है, जिससे संसाररूपी व्याधि दूर हो जाती है। अतएव प्रत्येक श्रावक को आत्म.तन्मयता आत्म.निष्ठा प्रतिभा मेधा आदि के विकास के लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है।

4. **संयम** – इन्द्रिय और मन का नियमन कर संयम में प्रवृत्त होना अत्यावश्यक है। कषाय और विकारों का दमन किये बिना आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती है। संयम ही ऐसी औषधि है, जो राग.द्वेषरूप परिणामों को नियन्त्रित करता है। संयम के दो भेद हैं – इन्द्रिय.संयम और प्राणि.संयम। इन दोनों संयमों में पहले इन्द्रिय.संयम का धारण करना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियों के वश हो जाने पर ही प्राणियों की रक्षा सम्भव होती है। इन्द्रिय.सम्बन्धी अभिलाषाओं लालसाओं और इच्छाओं का निरोध करना इन्द्रिय .संयम के अन्तर्गत है। जिसने इन्द्रिय.संयम का पालन आरम्भ कर दिकया है, वह जीवन निर्वाह के लिए कम से कम सामग्री का उपयोग करता है, जिससे शेष सामग्री समाज के अन्य सदस्यों के काम आती है, संघर्ष कम होता है और विषमता दूर होती है। यदि एक मनष्य अधिक सामग्री का उपभाग करे तो दूसरों के लिए सामग्री कम पड़ेगी, जिससे शोषण आरम्भ हो जाएगा। अतएव इन्द्रिय.संयम का अभ्यास करना आवश्यक है। प्राणि.संयम में षट् काय के जीवों की रक्षा अपेक्षित है। प्राणि.संयम के धारण करने से अहिंसा की साधना सिद्ध होती है और आत्म.विकास का आरम्भ होता है।

5. **तप** – इच्छानिरोध को **तप** कहते हैं। जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और इच्छाओं का नियन्त्रण करता है, वह तप का अभ्यासी है। वास्तव में अनशन ऊनोदर आदि तपों के अभ्यास से आतमा मे निर्मलता उत्पन्न होती है। अहंकार और ममकार का त्याग भी तप के द्वारा ही सम्भव है। रत्नत्रय के अभ्यासी श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन तप का अभ्यास करना चाहिए।

6. **दान** – शक्त्यनुसार प्रतिदिन दान देना चाहिए। सम्पत्ति की सार्थकता दान में ही है। दान, सुपात्र को देने से अधिक फलवान् होता है। यदि दान में अहंकार का भाव आ जाए तो दान निष्फल हो जाता है। यह श्रावक, मुनि.आर्यिका.क्षुल्लक.क्षुल्लिका.ब्रह्मचारी.व्रती आदि को दान देकर शुभभावों का अर्जन करता है।

इसके अलावा पाक्षिक श्रावक का विस्तार से स्वरूप जानने के लिए **सागार धर्मामृत, श्रावकधर्मप्रदीप,** आदि श्रावकाचार के प्ररूपक ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य; तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ 525–526

नैष्ठिक श्रावक

श्रावक के द्वादश व्रतों और एकादश प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है। इस चर्या का निष्ठापूर्वक आचरण करने वाला गृहस्थ **नैष्ठिक श्रावक** कहा जाता है।[71]

तीर्थंकर महावीर और आचार्य परम्परा, भाग 1, पृष्ठ 509–510

नैष्ठिक श्रावक का स्वरूप बताते हुए सागार धर्मामृत में लिखा है –

''देशचारित्र को घातने वाली कषाय के क्षयोपशम के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के कारण दार्शनिक आदि ग्यारह अवस्थाओं के अधीन तथा पाक्षिक की अपेक्षा उत्तम लेश्या वाला नैष्ठिक श्रावक होता है।''[72]

पाँच व्रतों का सामान्य स्वरूप

वास्तव में एक ही पाप हिंसा है और उसके परिहारस्वरूप एक ही व्रत अहिंसा है। जैसे, खेत में उगे धान्य की रक्षा के लिए बाड़ होती है, उसी प्रकार अहिंसा व्रत के संरक्षण के लिए सत्य आदि को व्रत के रूप में माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र के सप्तम अध्याय में कहा है –

हिंसाऽनृत.स्तेयाऽ्म.परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।।1।।

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरक्त होना, व्रत है।

यद्यपि यहाँ व्रत का लक्षण निवृत्तिपरक किया है, तथापि यह निवृत्ति असत्प्रवृत्तियों की बतलाई है। हिंसा असत्य चोरी मैथुन और परिग्रह – ये असत् प्रवृत्तियाँ हैं, जो प्राणिमात्र के जीवन में ज्ञात और अज्ञातभाव से घर किये हुए हैं, इसलिए इनके त्याग का उपदेश देने से व्रत में सत् प्रवृत्तियाँ का स्वीकार अपने आप फलित हो जाता है। इस प्रकार अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये सत् प्रवृत्तियाँ हैं। वास्तव में अस्ति और नास्ति की अपेक्षा ही इन्हें प्रवृत्ति और निवृत्ति – ये दो पर्याय नाम दिये गये हैं।

वहीं उनके भेदों का कथन करते हुए कहा गया है –

देश.सर्वतोऽणु.महती।।2।।

अर्थात् उक्त पाँच पापों के एकदेश और सर्वदेश त्याग को क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत कहते हैं।

हिंसादि पाँच पापों के त्यागोन्मुख जीवों की प्रवृत्तियाँ एक जैसी नहीं हो सकती। जिसकी जितनी शक्ति होगी, वह उतना ही त्याग कर सकता है। यहाँ उनकी निवृत्ति या प्रवृत्ति के एकदेश और सर्वदेश – ऐसे दो विभाग कर दिये गये हैं। जहाँ पापों का एकदेश त्याग या व्रतों का एकदेश ग्रहण होता है, उसे अणुव्रत कहते हैं और जहाँ पापों का सर्वदेश त्याग या व्रतों का सर्वदेश ग्रहण होता है, उसे महाव्रत कहते हैं।

व्रतियों का सामान्य स्वरूप

व्रतियों का स्वरूप बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

निःशल्यो व्रती।।18।।

अर्थात् जो माया, मिथ्यात्व और निदान – इन तीन शल्यों से रहित होता है, वही व्रती होता है।

जो सच्चा व्रती होता है, उसे मात्र पाँच व्रतों को स्वीकार करने से काम नहीं चल सकता है, बल्कि इसके लिए उसे शल्यों का त्याग करना भी आवश्यक है। शल्य भीतर ही भीतर पीड़ा देने वाली चीज है। शल्य का दूसरा नाम काँटा है। जैसे, किसी स्वस्थ मनुष्य के पैरों में काँटा चुभ जाने पर वह राहत का अनुभव नहीं करता है; उसी प्रकार व्रतों के स्वीकार कर लेने पर भी शल्य के रहते हुए कोई भी प्राणी वास्तविक व्रती नहीं हो पाता। व्रतों को स्वीकार कर लेना और बात है, उसे जीवन में उतार लेना और बात है। शल्य का होना, उस व्यक्ति की मानसिक अस्वस्थता का सूचक है।

व्रतों के पालन में कपट ढोंग अथवा ठगने की प्रवृत्ति का होना, माया शल्य है। व्रतों का पालन करते हुए भी सत्य पर श्रद्धा न लाना अथवा असत्य का आग्रह रखना, मिथ्यादर्शन शल्य है। तथा व्रतों के फलस्वरूप भोगों की लालसा रखना, निदान शल्य है। इन तीन शल्यों के रहते हुए कोई भी प्राणी व्रतों को अपने जीवन में नहीं उतार पाता, वे केवल उसके लिए आडम्बर मात्र बने रहते हैं; अतः व्रती होने के लिए शल्यों का परिहार करना, अत्यन्त आवश्यक है।

व्रतियों के भेद

व्रतियों के गृहवासी और गृहत्यागी की अपेक्षा भेद किये गये हैं। वही तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

अगार्यनगारश्च।। 7/19।।

अर्थात् व्रती के दो भेद होते हैं – 1. अगारी या गृहस्थ और 2. अनगारी या गृहविरत साधु।

अणुव्रतों का धारक अगारी होता है और महाव्रतों का धारक अनगार होता है। अथवा जिसने अन्तरंग परिणामों से परिग्रह का पूरी तरह से त्याग नहीं किया है, वह अगारी अर्थात् गृहस्थ है तथा जिसने अन्तरंग परिणामों से परिग्रह का पूरी तरह त्याग कर दिया है, वह अनगार अर्थात् मुनि है। ऐसा होने पर भी यदि किसी प्रसंगवश गृहस्थ को वन में या घर के बाहर रहना पड़े अथवा भोजनादि के निमित्त से घर में आना पड़े या विमोचित घर आदि में रहना पड़े तो उससे गृहस्थ को अनगार या मुनि को अगारी नहीं माना जा सकता। तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है –

अणुव्रतोऽगारी।। 7/20।।

अर्थात् गृहस्थ श्रावक अणुव्रत का धारक होता है।

इस सूत्र के माध्यम से यह नियम बताया गया है कि गृहस्थ श्रावक, अणुव्रत का धारक ही होता है, वह कभी भी महाव्रत का धारक नहीं हो सकता, अनगार या मुनि नहीं कहला सकता; उसे इस अवस्था में कभी भी मुनि के योग्य विशुद्धि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार व्रती गृहस्थ श्रावक, अन्य किन.किन व्रतों का पालन करता है, उसे बताते हुए कहते हैं –

दिग्देशाऽनर्थदण्डविरति.सामायिक.प्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणा.

ऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च।। 7/21।।

अर्थात् गृहस्थ श्रावक, पाँच अणुव्रतों के साथ दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्डव्रत – इन तीन गुणव्रतों एवं सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत, और अतिथिसंविभागव्रत – इन चार शिक्षाव्रतों से भी सम्पन्न होता है।

जब कोई अव्रती श्रावक व्रती होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे बारह व्रतों को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। न्यूनाधिक प्रमाण में इन बारह व्रतों को या इनके सहकारी अन्य व्रतों को पालन करने वाला गृहस्थ व्रती श्रावक कहलाता है।

अभिप्राय पूर्वक लिये गये नियम को व्रत कहते हैं। यद्यपि व्रत का यह लक्षण श्रावक के सभी व्रतों में पाया जाता है; तथापि अहिंसा आदि पाँच को व्रत और दिग्विरति आदि सात को शील कहने का कारण यह है कि अहिंसा आदि पाँच मूलभूत व्रत हैं, इसलिए ये व्रत शब्द द्वारा कहे गये हैं और दिग्विरति आदि सात पंच व्रतों की रक्षा के लिए हैं, इसलिए ये शील शब्द द्वारा कहे गये हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है –

पाँच अणुव्रत

अणुव्रत – इनमें पाँच पापों से पूर्णतः विरक्ति नहीं की जाती है, इसलिए इनका **अणुव्रत** नाम सार्थक है। अणुव्रतों के पाँच भेद हैं – 1. अहिंसाणुव्रत, 2. सत्याणुव्रत, 3. अर्चार्याणुव्रत, 4. ब्रह्मचर्याणुव्रत, 5. परिग्रहपरिमाणव्रत।

1. **अहिंसाणुव्रत** – हिंसा का त्याग करना, अहिंसाव्रत कहलाता है। आंशिकरूप से इस व्रत का पालन करना, **अहिंसाणुव्रत** कहलाता है।

जो गृहस्थ, सम्यग्दर्शन से सहित है, दयावान् है, हिंसा से भयभीत है, उसका सम्पूर्ण त्याग करने की भावना है, उसके सम्मुख है तो भी उससे एकेन्द्रिय जो पृथिवीकाय आदि स्थावर जीव की हिंसा का त्याग नहीं हो पा रहा है क्योंकि त्रस और स्थावर दोनों की हिंसा का त्याग तो जो गृहत्यागी मुनीश्वर हैं, उनसे ही बन सकता है; अतः अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत श्रावक संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है, वह त्रस जीवों (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पाँच इन्द्रिय जीव) की हिंसा मन.वचन.काय और कृत.कारित.अनुमोदना से संकल्पपूर्वक नहीं करता है।

इस प्रकार उसे स्थूल हिंसा का त्यागी होने से अहिंसाणुव्रती कहते हैं।

त्रस और स्थावर सब प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग न हो सकने के कारण जीवन भर के लिए त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग कर देना और स्थावर जीवों की हिंसा तथा आरम्भ भी यथासम्भव कम करते जाना, **अहिंसाणुव्रत** है।

यहाँ स्थूल हिंसा में संकल्पी हिंसा का ग्रहण किया जाता है। जो हिंसा, केवल हिंसा करने के लिए की जाती है, तथा जो हिंसा इरादापूर्वक की जाती है, उसे **संकल्पी हिंसा** कहते हैं। जैसे – आतंकवादियों के द्वारा की जाने वाली हिंसा।

2. **सत्याणुव्रत** – सत्य और अहिंसा का परस्पर बहुत गहरा सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे का पालन सम्भव नहीं है। ये दोनों परस्पर एक.दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा, यथार्थ सत्य को सौन्दर्य प्रदान करती है और यथार्थ सत्य, अहिंसा को सुरक्षा देता है। अहिंसारहित सत्य, कुरूप है और सत्यरहित अहिंसा, क्षणस्थायी है, असुरक्षित है। इसलिए अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की आराधना अनिवार्य है।

सत्यव्रत का पूर्णरूप से पालन तो मुनियों के द्वारा होता है और एकदेशरूप से पालन गृहस्थ श्रावक के द्वारा होता है। जो गृहस्थ, स्थूल असत्य स्वयं नहीं बोलता, न दूसरे से कहलाता है, तथा जिस वचन से अपने पर या दूसरे पर आपत्ति आ जावे – ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है; उसे सन्त पुरुष, स्थूल असत्य का त्याग या **सत्याणुव्रत** कहते हैं। लोक.व्यवहार में जिसे स्थूल झूठ समझा जाता है, उसी का यहाँ ग्रहण किया गया है। जैसे – 1. शपथ लेकर अन्यथा कथन करना अर्थात् जान.बूझ कर झूठ बोलना। 2. पंच या जज (न्यायाधीश) के पद पर प्रतिष्ठित होकर अन्यथा कहना या कहलाना या निर्णय देना। 3. धर्मोपदेष्टा बन कर अन्यथा उपदेश देना। 4. विश्वस्त करके झूठ बोलना। 5. ऐसा झूठ बोलना, जो आपत्ति का कारण हो।

जिस प्रकार स्थूल हिंसा में संकल्पी हिंसा का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार स्थूल झूठ में संकल्पी झूठ का ग्रहण किया जाता है। जो झूठ, सिर्फ झूठ बोलने के लिए ही बोला जाता है, जो इरादापूर्वक दूसरे को नुकसान पहुँचाने के उद्देश्य से झूठ बोला जाता है, उसे इस श्रेणी में लिया जाता है। सामान्य सद्गृहस्थ से कम से कम इतनी अपेक्षा तो रखी ही जा सकती है।

भयवश आशावश स्नेहवश या लोभवश कम से कम ऐसा असत्य नहीं बोलना, जो गृहविनाश या ग्रामविनाश का कारण हो, वह **सत्याणुव्रत** है।

3. **अचौर्याणुव्रत –** बिना दिये हुए दूसरे के द्रव्य को नहीं लेना, **अचौर्याणुव्रत** है।

चोरी भी हिंसा का ही एक रूप है। जब कोई व्यक्ति, किसी की कोई वस्तु चुरा लेता है, या ठग लेता है, तब उसे बहुत मानसिक पीड़ा होती है और भौतिक कष्ट भी होता है; अतः जब तक चोरी करने का त्याग न हो, तब तक अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकता और सत्य का निर्वाह भी नहीं हो सकता।

चोरी के पूर्ण त्याग करने पर अचौर्य महाव्रत होता है, परन्तु गृहस्थ अवस्था में चोरी का पूर्णतः त्याग करना सम्भव नहीं है; अतः स्थूल चोरी के त्यागरूप **अचौर्याणुव्रत** होता है। जैसे – किसी पुरुष का जमीन में गड़ा हुआ धन हो; किसी भी स्थान में, महल में, मन्दिर में, गृह आदि में छिपाया हुआ धन हो; आपको अमानत सौंप गया हो; आपके मकान में या दूसरे के मकान में आप को बिना बताये–जताये ही रख गया हो, गाँव में, नगर में, रास्ते में, वन में, बाग में पटक गया हो, आप को सौंप कर भूल गया हो, पटक गया हो; आप को सौंप कर भूल गया हो; हिसाब में, लेखे में चूक गया हो; आप के स्थान में भूल से रख गया हो, पटक गया हो; अथवा लेन–देन में, गिनती में, भूला हुआ पैसा, रुपया, मुहर, आभरण, वस्तु आदि महंगी या थोड़े मोल की हो; उसे बिना दी हुई ग्रहण नहीं करना चाहिए या दूसरे की वस्तु उठा कर किसी अन्य को देना नहीं चाहिए।

डॉ. धर्मचन्द जैन ने जिनवाणी मासिक पत्रिका में 'अचौर्यव्रत और नैतिकता' – इस विषय पर एक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अचौर्यव्रत के महत्त्व को रेखांकित किया है। उसके कतिपय अंश निम्न प्रकार हैं –

1. अचौर्यव्रत का महत्त्व मानवीय परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। पशु.पक्षियों के लिए चोरी की कोई अवधारणा नहीं है। जहाँ उन्हें भोजन मिलता है, वे वहीं उसे ग्रहण कर लेते हैं। अतः उन्हें यह बोध नहीं होता कि कहाँ खाना चोरी के अन्तर्गत आएगा और कहाँ नहीं।
2. चोरी से दूसरे के अधिकारों का हनन होता है और अपने मूल्यों का पतन।
3. चोरी को मानव समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है; चोर की इज्जत, समाज की दृष्टि में कुछ नहीं होती।
4. चोरी को मानव समाज में तथा सरकार के स्तर पर एक दण्डनीय अपराध स्वीकार किया गया है।
5. भगवान महावीर ने चोरी को 'अदत्तादान' शब्द से परिभाषित किया है। यह शब्द की सूक्ष्म व्याख्या करता है। जिस वस्तु पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है, उसको तो हम ग्रहण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ – सूर्य के प्रकाश, वायु आदि अनेक वस्तुओं पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है; अतः हम उसे सहजरूप में ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु जहाँ तक रोटी–कपड़ा–मकान की बात है; वहाँ हम उसे मूल्य चुका कर अथवा दूसरे की अनुमति लेकर ग्रहण कर सकते हैं।
6. जैन साधु.साध्वी अपने पास फूटी कौड़ी भी नहीं रखते है, अतः वे अपनी आवश्यक्ता के अनुसार गृहस्थों से भोजन आदि ग्रहण करते हैं; इन्हें ग्रहण करने में भी अनेक नियमों और उपनियमों का पालन करते हैं। नियमों के कारण वे भूख होते हुए भी एवं भोजन मिलने पर भी कदाचित् उसे नहीं ले पाते हैं। वे अपनी इच्छाओं एवं आवश्यक्ताओं को कम और नियमों को अधिक महत्त्व देते हैं। इसलिए सहज ही उनके जीवन में अदत्तादान व्रत का पालन हो जाता है। वे संयम यात्रा के लिए भिक्षावृत्ति अपनाते हैं। यदि कहीं प्रासुक जल उपलब्ध है, किन्तु कोई देने वाला न हो तो वे उसे स्वयं ग्रहण नहीं करते हैं।
7. आज वस्तु.संग्रह की कोई सीमा नहीं रह गई है। यह मानव अपने सुख के लिए दूसरे के श्रम को भूल जाता है तथा सामाजिक नीति.नियमों को ताक में रख कर वस्तु.संग्रह में लगा रहता है।

8. राज्य के नियमों में स्थानीय चुगी, वाणिज्यिक कर, वेट टैक्स, आय कर आदि सबका समावेश होता है किन्तु ऐसे कम ही व्यापारी हैं, जो पूर्णतया इन नियमों का पालन करते हैं।
9. कर चोरी को जैन समाज भी बुरा नहीं मानता। वह कहता है कि सरकारी नियम ही इतने कठोर हैं कि यदि व्यक्ति कर चोरी न करे तो कुछ भी कमा न सकेगा। दूसरी बात, यदि सब व्यक्ति कर चुकाने लगें तो बाजार में वस्तुओं के दाम अधिक ऊँचे जा सकते हैं। सरकार को कर नहीं देने वालें लोग, बाजार में कम कीमत पर वस्तु उपलब्ध कराते हैं। मूलतः यह राज्य विरुद्ध कार्य है, जो पूर्णतया त्याज्य है।
10. चोरी के अनेक रूप हैं; उनमें कार्य की चोरी भी एक चोरी है। जिस कार्य को करने के लिए पारिश्रमिक लिया गया है, यदि उसे हम पूर्ण नहीं करते हैं तो यह भी एक तरह की चोरी ही है।
11. चोरी का एक रूप लेखन की चोरी है। दूसरे के द्वारा लिखे हुए मौलिक लेखों एवं रचनाओं को अपने नाम से प्रकाशित करवाना भी एक चोरी है। गृहस्थों में ही नहीं, साधु.साध्वियों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। कोई यह कहे कि किसी लेखक को पैसा देकर हम उस कृति को अपने नाम से प्रकाशित करवाये तो इसमें क्या दोष है?, यह तो कोई अदत्तादान नहीं है। किन्तु गहराई से विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह भी एक प्रकार का दोष ही है।
12. आजकल किसी शोध का भी पेटेन्ट होता है। उसे दूसरा कोई अपने नाम से प्रयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार लेखन में भी कॉपीराइट (सर्वाधिकार सुरक्षित) होता है, दूसरा उसकी नकल नहीं कर सकता। यदि करता है तो यह अपराध है।
13. बिना श्रम के वस्तु की प्राप्ति की भावना, लोभ की प्रवृत्ति, दूसरों को धोखा देने की लालसा, अपने कुत्सित संवेगों पर अनियन्त्रण आदि अनेक कारण हैं, जो चोरी की प्रवृत्ति को जन्म देते हैं।
14. प्रभु महावीर ने जो अदत्तादान का सन्देश दिया है, वह व्यक्ति को भीतर से निर्मल बनाता है तथा दूसरों के प्रति आदरभाव उत्पन्न करता है, उनके अधिकारों की रक्षा के भाव को सुरक्षित रखता है तथा संग्रह की भावना को उत्पन्न नहीं देता।
15. इस प्रकार अदत्तादान.विरमण.व्रत, व्यक्ति को बाह्य रूप से ही नहीं, बल्कि अभ्यन्तर स्तर पर भी नैतिक एवं धर्मनिष्ठ बनाता है।

महात्मा कबीर ने कहा भी है –

देख पराई चूपड़ी, मत ललचावे जीव।
रूखी.सूखी खाय के, ठण्डा पानी पीव।।

– डॉ. धर्मचन्द जैन; अचौर्यव्रत और नैतिकता, जिनवाणि मासिक, पृष्ठ 5.8

4. ब्रह्मचर्याणुव्रत – अपनी विवाहिता स्त्री या विवाहित पुरुष के सिवा शेष सब स्त्रियाँ या पुरुषों को बुरी निगाह से नहीं देखना, **ब्रह्मचर्याणुव्रत** है।

यद्यपि यौनाचार या मैथुन के सर्वथा त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं, तथापि गृहस्थ को विवाह का मार्ग खुला हुआ है। जो अपनी जाति की, कुलीन घर की एवं साक्षीपूर्वक विवाहित स्त्री में सन्तोष धारण करके, उससे अन्य समस्त स्त्री मात्र में रागभाव का त्याग करके, परस्त्री, वेश्या, दासी, कुलटा, कुंवारी इत्यादि स्त्रियों में विरागता को प्राप्त होकर, उनसे रागभावपूर्वक मिलना, वचनालाप करना, अवलोकन करना, स्पर्श करना आदि का त्याग करना, **ब्रह्मचर्याणुव्रत** कहलाता है।

इस व्रत के दूसरे नाम – 1. परस्त्रीत्यागव्रत या परपुरुषत्यागव्रत अथवा 2. स्वस्त्रीसन्तोषव्रत या स्वपुरुषसन्तोषव्रत भी है। दोनों में से एक नाम निषेधपरक है और दूसरा नाम विधिपरक है; अतः दोनों का आशय एक ही है। उन्मुक्त यौनाचार ने आज एड्स आदि कई ज्वलन्त समस्याओं को जन्म दिया है, इनसे परिवार और समाज में अशान्ति और विग्रह फैलता है।

वर्तमान में काम.सेवन की तुलना पौरुष से की जाती है। ऐसा माना जाता है कि जो जितना कामुक है या काम.पुरुषार्थ करता है, वह उतना ही बलवान या बलशाली है, किन्तु यह एक अत्यन्त भ्रान्त धारणा है। अधिक काम.वासना कमजोरी की सूचक होती है। एक शोध से ज्ञात हुआ है कि शेर जैसा शक्तिशाली जानवर, वर्ष में एक बार ही सम्भोग करता है; अन्य पशु.पक्षी भी अपने निश्चित ऋतुकाल में ही काम.सेवन करते हैं, किन्तु मात्र मनुष्य के जीवन में भोग का कोई नियम या सीमा विवेक नहीं है।

ब्रह्मचर्य व्रत की नौ बाड़

पण्डित बनारसीदास ने नाटक समयसार में निम्न छन्द के माध्यम से **नव बाड़ों का विवेचन** किया है –

तिय थल वास, प्रेम रुचि निरखन, दे परीछ भाखै मधु वैन।
पूरब भोग केलि रस चिन्तन, गुरु आहार लेत चित चैन।।
करि सुचि तन सिंगार बनावत, तिय पर जंक मध्य सुख सैन।
मनमथ कथा, उदर भरि भोजन, ये नौ वाड़ि कहै जिन बैन।। 67।।

पण्डित बनारसीदास; **नाटक समयसार,** चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द 67, पृष्ठ 388

1. स्त्री के साथ निवास नहीं करना अथवा उसके समागम में नहीं रहना।
2. स्त्री के रूप तथा शृंगार को विकार भाव या रागभरी दृष्टि से नहीं देखना।
3. स्त्रियों से छिप कर भाषण नहीं करना तथा उनके मधुर वचनों को रागभावों से नहीं सुनना।
4. पहले भोगी हुई स्त्रियों या भोग.विलास का स्मरण नहीं करना।
5. काम को उद्दीपन करने वाले पदार्थ जैसे – घी, दूध, मिश्री, लड्डू, मेवा, भांग, विष, उपविष, मादक और पौष्ठिक पदार्थ; पारा आदि धातु, उपधातु, सोने, चांदी, मोती आदि की भस्म, रस, रसायन, बलवान और वीर्य बढ़ाने वाली औषधियाँ तथा अन्य प्रकार के गरिष्ठ भोजन नहीं करना।
6. स्त्रियों के शृंगार सम्बन्धी शास्त्रों को न पढ़ना, न सुनना तथा काम कथा न कहना, न सुनना।
7. स्त्रियों के आसन पर नहीं बैठना तथा उनकी शय्या पर नहीं सोना।
8. स्नानादि के द्वारा शरीर को आवश्यकता से अधिक नहीं सजाना।
9. भोजन पान आदि के द्वारा पेट को पूरा नहीं भरना।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ हैं सो ये सब ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए हैं। जिस प्रकार चावल, गेहूँ, आदि अन्नों के खेतों में उनकी रक्षा के लिए चारों ओर काँटों की बाड़ लगा देते हैं; उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ये ऊपर लिखी नौ बाड़ हैं। जिस प्रकार बिना बाड़ के खेत नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इन नौ बाड़ों के बिना शील का भंग हो जाता है।

5. परिग्रहपरिमाणव्रत – बाह्य पदार्थों को एकत्रित करने की भावना और उसमें आसक्ति ही परिग्रह है। अपनी आवश्यक्ता के अनुसार पदार्थ का संचय तथा उसमें अनासक्ति का भाव रखना, **परिग्रह.परिमाण.व्रत** कहलाता है। परिग्रह अर्थात् पदार्थों में आसक्ति, हिंसा है तथा पदार्थों के प्रति ममत्व या आसक्ति का त्याग, अहिंसा है। इस व्रत का दूसरा नाम **'इच्छा.परिमाण.व्रत'** भी है।

उक्त सभी बाह्य परिगहों में अपनी शक्ति, परिस्थिति और आवश्यक्ताओं के अनुसार सीमा बाँध कर उसके बाहर अनन्त पदार्थों का मन.वचन.काय से त्याग कर देना, **परिग्रह.परिमाण.व्रत** कहलाता है।

आवश्यकता को कम करते हुए जीवन भर के लिए धन धान्य आदि बाह्य परिग्रह का परिमाण कर लेना, **परिग्रहपरिमाणव्रत** है।

परिग्रह का परिमाण करना स्वयं अणुव्रत का सूचक है, अतः इस व्रत के नाम के साथ अणुव्रत शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

परिग्रह दो प्रकार के होते हैं – एक, अन्तरंग परिग्रह और दूसरा, बहिरंग परिग्रह।

चेतना में उठने वाली विकार की सभी तरंगें, अन्तरंग परिग्रह हैं अर्थात् कामनाओं का ही दूसरा नाम अन्तरंग परिग्रह है। उसके चौदह भेद वर्णित हैं – 1. मिथ्यात्व, 2. क्रोध, 3. मान, 4. माया, 5. लोभ, 6. हास्य, 7. रति, 8. अरति, 9. शोक, 10. भय, 11. जुगुप्सा, 12. स्त्रीवेद, 13. पुरुषवेद, 14. नपुंसकवेद।

ये आत्मा की सहज स्वाभाविक शान्ति में व्यवधान डालते हैं; अतः इन्हें हिंसा कहते हैं।

उस अन्तरंग परिग्रह में जो निमित्तभूत बाह्य पदार्थ हैं, उन्हें बहिरंग परिग्रह के नाम से जाना जाता है। बहिरंग परिग्रह में – 1. खेत, 2. मकान, 3.सोना 4. चाँदी, 5. धन, 6. धान्य, 7. दासी, 8. दास, 9. कपड़े, 10. बर्तन अथवा 1. क्षेत्र, 2. वास्तु, 3. धन, 4. धान्य, 5. द्विपद, 6. चतुष्पद, 7. शयनासन, 8. वाहन, 9. वस्त्र, 10 बर्तन – इन दश पदार्थों का समावेश होता है।

इस प्रकार परिग्रह के कुल चौबीस भेद हो जाते हैं।

यद्यपि यह व्रत पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक को होता है और उसको अन्तरंग परिग्रहों में भी कथंचित् परिमाण हो जाता है क्योंकि उसके अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है; इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उसके मिथ्यात्व को छोड़ कर बाकी सभी परिग्रहों का परिमाण हो जाता है। मिथ्यात्व का तो चतुर्थ गुणस्थान में ही अभाव हो जाता है। नोकषायों में भी हम कह सकते हैं कि अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण के प्रभाव वाली हास्य आदि कषायों का अभाव होने से उनमें भी परिमाण हो जाता है। चूंकि व्यावहारिक दृष्टि से हमें बाह्य परिग्रह ही दृष्टिगोचर होता है; अतः व्यवहार में बाह्य परिग्रहों के परिमाण को आधार बना कर ही यह व्रत ग्रहण किया जाता है।

तीन गुणव्रत

गुणव्रत – इन तीन व्रतों का पालन करना, पाँच अणुव्रतों के लिए गुणकारी है, इसीलिए इन्हें **गुणव्रत** कहते हैं।

1. **दिग्व्रत** – जीवन भर के लिए अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व आदि सभी दिशाओं की मर्यादा निश्चितं करके बाहर धर्मकार्य के सिवा अन्य निमित्त से जाने.आने आदिरूप किसी प्रकार का व्यापार नहीं करना, **दिग्विरतिव्रत** है।

इस व्रत में एक बार स्वीकृत दिशाओं की मर्यादा को कालान्तर में घटाया तो जा सकता है, परन्तु बढ़ाना किसी भी हालत में सम्भव नहीं है।

दिग्व्रत, यह तीन गुणव्रतों का एक भेद है। ये पंचाणुव्रतों को गुणाकाररूप से बढ़ाने वाले होने से गुणव्रत कहलाते हैं। अहिंसा धर्म की वृद्धि के लिए दश दिशाओं के समूह में किसी प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पर्वत, वन, देश, आदि के माध्यम से परिमाण करके, परिमाण की हुई सीमा से बाहर मरणपर्यन्त स्वयं गमन नहीं करना, किसी को नहीं बुलाना, किसी को नहीं भेजना, वस्तु नहीं माँगना, आदि **दिग्व्रत** कहलाता है। ध्यान रहे कि दिग्व्रत की मर्यादा मात्र पाप कार्यों से निवृत्ति के लिए होती है, धर्मकार्य से निवृत्ति के लिए नहीं।

परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रत में अन्तर

1. दोनों के अधिकरण या विषय भिन्न.भिन्न हैं।
2. परिग्रहपरिमाणव्रत में क्षेत्र, वास्तु आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों का परिमाण किया जाता है; परन्तु दिग्व्रत में दिशाओं में जाने की मर्यादा की जाती है।
3. दिशाओं में क्षेत्र, वास्तु आदि के समान परिग्रहबुद्धि को आत्मसात् करके परिमाण नहीं किया जाता।

निष्कर्ष – जो अणुव्रती गृहस्थ, दश दिशाओं की मर्यादा लेकर रहते हैं, उनके मर्यादा के भीतर तो अणुव्रत ही रहते हैं, किन्तु मर्यादा के बाहर समस्त त्रस.स्थावर जीवों की अणु मात्र भी हिंसा आदि पाँचों पापों

का पूर्ण त्याग होने से अणुव्रत भी महाव्रतपने की परिणति को प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि निश्चय से उनके साक्षात् महाव्रत नहीं होते क्योंकि अणुव्रती के प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय विद्यमान होता है। फिर भी उत्साह बढ़ाने के हेतु से उन्हें महाव्रती भी कहा जाता है। वास्तविक महाव्रत में तो नग्न दिगम्बर अवस्था में हिंसादि पाँचों पापों का मन.वचन.कायपूर्वक कृत.कारित.अनुमोदना से सहज पूर्ण त्याग होता है।

2. **देशव्रत** – दिग्व्रत में गृहीत मर्यादा के अन्तर्गत प्रयोजन के अनुसार घड़ी घण्टा दिन पक्ष आदि के हिसाब से क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर धर्मकार्य के सिवा अन्य निमित्त से जाने आने आदिरूप किसी भी प्रकार का व्यापार नहीं करना, **देशविरतिव्रत** है।

यद्यपि यह व्रत नियत समय के लिए लिया जाता है, तथापि एक बार स्वीकृत व्रत की कालमर्यादा पूरी होने के साथ ही पुनः नवीन हीनाधिक देशमर्यादा ले ली जाती है।

दिग्व्रत और देशव्रत के अलग अलग प्रयोजन

दिग्व्रत में तो समस्त दिशाओं का प्रमाण हो जाता है, फिर भी देशव्रत में जो देशों की मर्यादा की जाती है; उसका अभिप्राय यह है कि पहले जो दिशाओं की मर्यादा की थी, उसमें यदि कोई म्लेच्छ देश हो अथवा अनार्य देश हो, जहाँ पर कि अपने व्रत और सदाचरणों का भंग होता हो तो ऐसे अधार्मिक देश में लोभादिक के कारण भी कभी नहीं जाना चाहिए। देशव्रत धारण करने का यही अभिप्राय है, वही वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है –

वयभंगकारणं होई, जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण।
कीरइ गमणणिवत्ती, तं जाण गुणव्वयं विदियं।।

वसुनन्दि.श्रावकाचार, गाथा 215

3. **अनर्थदण्डव्रत** – प्रयोजन के बिना होने वाला निरर्थक व्यापार अनर्थदण्ड कहलाता है और उसका त्याग कर देना, **अनर्थदण्डविरतिव्रत** है।

व्रती को दिग्व्रत के द्वारा गृहीत मर्यादा के भीतर भी ऐसे ही कार्य करना चाहिए, जिनसे व्यर्थ ही पाप का संचय नहीं हो; जिनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है – ऐसे कार्यों से भी विरक्त होना, **अनर्थदण्डव्रत** कहलाता है।

अनर्थदण्डव्रत के **पाँच भेद** कहे गये हैं –

- पापोपदेश (तिर्यंचों को क्लेश पहुँचाने, उनका वध करने, हिंसोत्पादक खोटे व्यवसाय करने, आरम्भकार्य करने, छलकपट करने आदि पाप का उपदेश देना)।
- हिंसादान (हिंसा के उपकरणों को उधार देना, बेचना आदि)।
- अपध्यान (गलत कार्यों का विचार करना)।
- दुःश्रुति (गलत कार्यों का उपदेश सुनना)।
- प्रमादचर्या (हिंसोत्पादक प्रमादरूप आचरण करना)।

अन्य भी इसी प्रकार के स्वयं के लिए निरर्थक कार्यों को भी अनर्थदण्ड के रूप में जानना चाहिए तथा उनका त्याग भी अवश्य करना चाहिए।

चार शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत – इन चार व्रतों से त्यागधर्म या मुनिधर्म की शिक्षा मिलती है, इसलिए ये **शिक्षाव्रत** कहलाते हैं।

1. **सामायिकव्रत –** विवक्षित काल तक मन.वचन.काय सम्बन्धी बाह्य प्रवृत्ति से निवृत्त होकर समता परिणामों से एकत्व का अभ्यास करना, **सामायिक** है।

इस अभ्यास में णमोकार आदि पदों का पुनः पुनः नियत उच्चारण करना सहायक होने से वह भी सामायिक माना गया है, परन्तु सामायिक में शब्दोच्चारण की अपेक्षा चिन्तवन की ही मुख्यता है।

प्रश्न – सामायिक के कितने भेद हैं ?

समाधान – सामायिक के छह भेद हैं – नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक, और भाव सामायिक।

वही आचार्य श्री सकलकीर्ति ने प्रश्नोत्तरोपासकाचार में लिखा है –

- **नाम सामायिक** – जो विद्वान् लोग, शुभअशुभ विकल्पों के नामों के समूह को सुन कर, राग द्वेष मोह का त्याग कर देते हैं, उसको नाम सामायिक कहते हैं।
- **स्थापना सामायिक** – जो शुभ और अशुभ रूप, चेतन या अचेतन से उत्पन्न होते हैं, उनको देख कर जो राग द्वेष मोह का त्याग कर देते हैं, उनके स्थापना सामायिक होता है।
- **द्रव्य सामायिक** – जो लोहा, सोना आदि सब पदार्थों में समान भाव धारण करते हैं, उनके द्रव्य सामायिक होता है, यह द्रव्य सामायिक बिना समता भावों के और किसी प्रकार हो नहीं सकता।
- **क्षेत्र सामायिक** – जो शुभ, अशुभ क्षेत्र में सुख और दुःखों के समूह को पाकर भी राग द्वेष मोह का नाश कर देते हैं, वह उनका क्षेत्र सामायिक है।
- **काल सामायिक** – जो शीतकाल में वा उष्णकाल में समताभाव धारण करते हैं; सर्दी गर्मी के दुःखों को समताभाव से सहन करते हैं, उसमें दुःख नहीं मानते सो काल सामायिक है।
- **भाव सामायिक** – जो शत्रु मित्रादि में राग द्वेष को सर्वथा छोड़ देते हैं और समताभाव धारण करते हैं, उनके भाव सामायिक होता है।''

2. **प्रोषधोपवासव्रत –** अष्टमी.चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में पंचेन्द्रिय के विषयों से निवृत्त होकर चार प्रकार के आहार का त्याग करना, **प्रोषधोपवास** है।

उपवास का लक्षण बताते हुए चर्चासागर में कहा है –

पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** चर्चा 34.35, पृष्ठ 37.38

''उपवास धारण करने वाले भव्य जीव उपवास धारण करने के समय से लेकर आठ पहर तक, बारह पहर तक अथवा सोलह पहर तक क्रोध मान माया लोभ – इन चार कषायों का सर्वथा त्याग कर देते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र – इन पाँच इन्द्रियों के स्पर्श रस गन्ध वर्ण शब्द – इन विषयों का सर्वथा त्याग कर देते हैं और खाद्य स्वाद्य अवलेह पान – इन चार प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग कर देते हैं। दाल, रोटी, भात आदि भोजन के पदार्थों को **खाद्य** कहते हैं। पेड़ा, बरफी, लौंग, इलायची आदि स्वाद लेने योग्य पदार्थों को **स्वाद्य** कहते हैं। चाटने योग्य रबड़ी चटनी आदि को **अवलेह** कहते हैं। तथा दूध, पानी आदि पीने योग्य पदार्थों को **पान** कहते हैं। इन सबके त्याग करने को उपवास कहते हैं। जो लोग क्रोधादि कषायों का त्याग किये बिना ही केवल भोजन पान आदि का त्याग कर देते हैं और उसको उपवास कहते हैं सो मिथ्या है। जैनधर्म के अनुसार वह उपवास नहीं, किन्तु लंघन कहलाता है।

सो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है –

उववासं कुव्वंतो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
सो णियदेहं सोसदि, ण झाडए कम्मलेसं पि।।[108]

अर्थात् जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भ करता है, वह शरीर को सुखाता है, उसके लेशमात्र भी कर्मों की निर्जरा नहीं होती।

इसकी टीका में अनेक स्थानों पर आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है –

कषाय.विषयाऽऽहार.त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लंघनकं विदुः।।[109]

अर्थात् जहाँ कषाय, विषय और आहार – इन तीनों का त्याग जहाँ किया जाता है, उसे उपवास कहते हैं, शेष सब लंघन कहलाते हैं। **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, संस्कृत टीका, श्लोक 359, पृष्ठ 261

इस सम्बन्ध में श्रावकों को विशेषरूप से सम्बोधित करते हुए प्रश्नोत्तर उपासकाचार नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि यदि कोई हीनशक्तिवाला उपवास के दिन जल पी ले तो उस उपवास के फल का आठवाँ भाग फल नष्ट हो जाता है। इस विषय को ही वहाँ लिखा है –

नीरादानेन हीयेत भागश्चैवाष्टमो नृणाम्।
उष्णेनैवोपवासस्य तस्मान्नीरं त्यजेत्सुधी।। **प्रश्नोत्तर.श्रावकाचार,** 19/7

इस अवसर पर अपने शरीर का संस्कार करना, स्नान करना, सुगन्ध लगाना, माला पहिनना, आभूषण पहिनना, व्यापार करना या घर के दूसरे काम करना आदि समस्त व्यापारों का त्याग कर देना चाहिए और चैत्यालय, साधु.निवास या उपवासगृह आदि एकान्त स्थान में धर्मकथा करते हुए समय बिताना चाहिए।

3. भोगोपभोग.परिमाणव्रत या उपभोग.परिभोग.परिमाणव्रत – भोजन.पानी और माला आदि उपभोग हैं तथा बिछौना, चारपाई और वस्त्राभूषण आदि परिभोग हैं। आवश्यकता को कम करते हुए इनका निरन्तर परिमाण करते रहना, **उपभोग.परिभोग.परिमाणव्रत** है।

पाँच इन्द्रियों के प्रयोजनवान विषयों में जो रागरूप आसक्तिभाव है, उसे घटाने के लिए सीमा बाँधना, सीमित करना; वह **भोगोपभोगपरिमाणव्रत** कहलाता है।

इस व्रत में अनेक उपभोग.परिभोग की वस्तुओं का तो सदा के लिए त्याग हो जाता है और अनेक उपभोग.परिभोग की वस्तुएँ बदलती रहती हैं, परन्तु होता है यह व्रत जीवन भर के लिए।

संसारी जीवों को इन्द्रियों के विषयों में बहुत राग रहता है। उस राग के कारण व्रत संयम दया क्षमा आदि समस्त गुणों से वह परांगमुख रहता है परन्तु अणुव्रतों का धारी गृहस्थ हिंसा असत्य चोरी परस्त्रीसेवन तथा अपरिमित परिग्रह से उत्पन्न अन्याय के विषयों के प्रति प्रीति का त्याग कर देने से वह व्रती हो जाता है। लेकिन अब न्याय के विषयों को भी तीव्र राग का कारण जान कर उनसे अरुचि हो जाने से राग की आसक्ति घटाने के लिए अपने प्रयोजनवान इन्द्रियों के विषयों में भी परिमाण करना, **भोगोपभोगपरिमाण** नामक शिक्षाव्रत कहलाता है।

व्रती जीवों को इन्द्रियों के विषयों में निरर्गल प्रवृत्ति को रोक कर भोगोपभोग.परिमाण करना, महान संवर का कारण है।

जो एक बार भोगा जाता है, वह **भोग** है तथा जो बार.बार भोगा जाता है, वह **उपभोग** है। **जैसे,** भोजन, कपूर.चन्दन आदि का विलेपन, पुष्पमाला, इत्र फुलेल मेला कौतुक इन्द्रजाल, गीत शब्द आदि पाँच इन्द्रिय के विषय, **भोग** हैं तथा वस्त्र आभूषण स्त्री सिंहासन पलंग बाग वादित्र चित्राम आदि पाँच इन्द्रिय के विषय, **उपभोग** हैं।

इनमें से अनेक चीजें ऐसी भी हैं, जो परिमाण करने योग्य नहीं हैं, बल्कि जीवन भर के लिए त्याग करने योग्य होती हैं। जैसे, त्रसजीवों की रक्षा करने के लिए मधु एवं मांस का तथा प्रमाद या हिताहित के

अविवेक को छोड़ने के लिए मद्य का सर्वथा त्याग अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि जो मद्य.मांस.मधु का त्यागी नहीं है, वह जिन.आज्ञा से परांगमुख है, जैनी ही नहीं है।

यम और नियम में अन्तर

जो प्रतिज्ञा, सम्पूर्ण जीवनपर्यन्त के लिए होती है, उसे **यम** कहते हैं। तथा जो प्रतिज्ञा, द्रव्य.क्षेत्र.काल की मर्यादा से ग्रहण की जाती हैं, उसे **नियम** कहते हैं।

प्रतिदिन ग्रहण करने योग्य 17 नियम

श्रावकधर्मसंग्रह, पृष्ठ 144

इस सम्बन्ध में आचार्यों ने निम्न श्लोक कहे हैं –

भोजने षट्रसे पाने, कुंकुमादिविलेपने।
पुष्पताम्बूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके।।
स्नानभूषणवस्त्रादौ, वाहने शयनासने।
सचित्तवस्तुसंख्यादौ, प्रमाणं भज प्रत्यहं।।

इन श्लोकों के माध्यम से निम्न 17 नियम करने का उपदेश दिया गया है –

1. आज इतने बार भोजन करूँगा।
2. दूध, दही, घी, शक्कर गुड़ आदि मीठा, नमक और तैल – इन छह रसों में इतने रस ही खाऊँगा।
3. शर्बत या जलपान, इतनी बार ही करूँगा।
4. चन्दन, केशर, आदि का तिलक, तेल या कुंकुम आदि का विलेपन इतनी बार ही करूँगा।
5. इतने प्रकार के पुष्प इतनी बार ही सूँघूँगा।
6. पान सुपारी इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ इतनी बार खाऊँगा।
7. गीत सुनूँगा या नहीं। सुनूँगा तो कितनी देर तक सुनूँगा।
8. नृत्य देखूँगा या नहीं। यदि देखूँगा तो कितनी देर तक देखूँगा।
9. आज ब्रह्मचर्य से रहूँगा या नहीं।
10. आज इतनी बार स्नान करूँगा।
11. आभूषण, इतने और अमुक अमुक ही पहनूँगा।
12. वस्त्र, इतने और अमुक अमुक ही पहनूँगा।
13. गाड़ी घोड़ा तांगा रेल मोटर सायकल, सायकल आदि अमुक अमुक सवारी का ही प्रयोग करूँगा।
14. बिस्तर पलंग आदि अमुक अमुक पर ही शयन करूँगा।
15. बेंच कुर्सी आरामकुर्सी तखत गादी आदि अमुक अमुक आसनों पर ही बैठूँगा।
16. सचित्त हरी तरकारी आदि आज इतने ही खाऊँगा।
17. अन्य अन्य वस्तुएँ इतनी ही रखूँगा।

सम्पूर्ण जीवन भर के लिए त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ

''कितने ही पदार्थ तो यावज्जीवन ही त्यागने योग्य हैं; जिनमें प्रगट त्रसजीवों का घात होता है, अनन्त जीवों का घात होता है, अपने कुल में सेवन करने योग्य नहीं है, नशा लाने वाले हैं, तथा मद्य.मांस.मधु माखन मदिरा अचार महाविकृति रात्रिभोजन, जुआ आदि सप्त व्यसन, बिना दिया धन का ग्रहण, त्रसहिंसा, स्थूल असत्य, अन्याय का परिग्रह, बिना छना जल, अनर्थदण्ड – ये सब यावज्जीवन त्यागने योग्य हैं; इनमें नियम क्या करना ? ये तो महा अनीति हैं। इनका त्याग करने से शरीर पर कुछ क्लेश भार या दुःख नहीं

आता है, अपयश भी नहीं होता है, त्याग करने से धन.खर्च भी नहीं होता है, बल नहीं चाहिए, स्वामी स्त्री पुत्र माता पिता कुटुम्ब आदि की सहायता नहीं चाहिए, किसी को कुछ बताने या किसी से कुछ पूछने की आवश्यक्ता नहीं है, अपने परिणामों के ही आधीन है।.....

.....यदि किसी प्रबल कर्म के उदय से व्रत लेने वाले को कोई पराधीनता आ जाए, बुढ़ापा आ जाए, नेत्र से अन्धा हो जाए, कानों से बहिरा हो जाए, लम्बा रोग आ जाए, कोई जबरदस्ती व्रत भंग करने लग जाए तो ऐसी स्थिति में भी अन्तरंग में व्रत संयम नहीं छोड़ना, तथा बाहर में पंच नमस्कार मन्त्र का ध्यान करते रहने से वह शुद्ध ही है'' – ऐसा रत्नकरण्ड श्रावकाचार की हिन्दी टीका में कहा है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार, हिन्दी टीका, पृष्ठ 148.149 के आधार पर

4. अतिथिसंविभागव्रत

''अपने द्वारा न्याय से कमाये गये द्रव्य में से संयम का उपकारी भोजन व दवाई आदि का भक्तिभावपूर्वक सुपात्र को देना, **अतिथिसंविभागव्रत** है।

श्रावकधर्मसंग्रह में कहा है कि ''दाता एवं पात्र दोनों के रत्नत्रय धर्म की वृद्धि के निमित्त सम्यक्त्वादि गुणों से युक्त गृहरहित साधु मुनि आदि पात्रों का प्रत्युपकार रहित अर्थात् बदले में उपकार की वांछा न करते हुए योग्य वैयावृत्ति करना, सो **अतिथिसंविभाग या सत्पात्रदान** कहलाता है।

जो सत्पुरुष पूर्णज्ञान की सिद्धि के निमित्तभूत शरीर की स्थिति के लिए बिना बुलाये ईर्यापथ शोधते हुए बिना तिथि निश्चय किये श्रावकों के गृह भोजन निमित्त आवें, सो **अतिथि** कहलाते हैं। यह वृत्ति अट्ठाईस मूलगुणधारी मुनियों में तथा उत्कृष्ट प्रतिमाधारी ऐलक क्षुल्लकों में पाई जाती है क्योंकि इनके स्थिति एवं विहार करने की तिथि निश्चित नहीं रहती।

ऐसे उत्तम सुपात्रों को द्वारापेक्षण आदि यथायोग्य नवधा भक्ति पूर्वक अपने भोजन में विभाग कर आहार, औषधि, शास्त्र आदि दान देना चाहिए। यदि उपर्युक्त प्रकार अतिथि का संयोग न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों एवं अन्य साधर्मियों का यथायोग्य आदरपूर्वक चार प्रकार का दान द्वारा वैयावृत्त्य करना चाहिए तथाा दुःखितों व भूखों को करुणाबुद्धिपूर्वक दान देना, यह सब **अतिथिसंविभाग** है।

धर्मसाध्य की सिद्धि के लिए आगम में चार प्रकार के दान का निरूपण किया गया है – 1. आहारदान, 2. औषधिदान, 3. शास्त्रदान, 4. अभयदान।

योग्य पात्र को आहार, औषधि, शास्त्र और अभयदान में से जिस समय जिसकी आवश्यकता हो, उसको उस समय उसी प्रकार का दान देना योग्य है। इससे दातार तथा पात्र दोनों के रत्नत्रय की प्राप्ति, वृद्धि और रक्षा होती है। इसी कारण ऐसा दान, सत्पात्रदान या सुदान कहलाता है। पात्र, दातार, द्रव्य और देने की विधि के भेद से दान के फल में विशेषता होती है।

मध्यम पात्र को उसके योग्य धन, वस्त्र आदि देते हैं। आर्यिका को सफेद साड़ी, पीछी, कमण्डलु, तथा मुनि को केवल पीछी कमण्डलु ही देते हैं। सभी पात्रों को शरीर की स्थिरता के लिए शुद्ध आहार रोग के निवारणार्थ औषधि तथा ज्ञान की वृद्धि के लिए शास्त्र देते हैं। दान में दी जाने वाली सभी वस्तुएँ यद्यपि सामान्य रीति से धर्मवृद्धि करने वाली हैं तो भी दातार को इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि पात्र को दान देने वाला पदार्थ अथवा पूजा प्रतिष्ठा आदि में काम आने वाली वस्तु शुद्ध निर्जीव व निरवद्य हो। मुनि आर्यिका, श्रावक श्राविका को दी जाने वाली वस्तु, स्वाध्याय ध्यान आदि तपों की वृद्धि करने वाली हो, आलस्य, उन्माद, विकार व अभिमान को उत्पन्न करने वाली न हो। विवेकपूर्वक दान देने से ही दातार व पात्र दोनों को धर्मवृद्धि एवं परम्परा से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

सागार धर्मामृत में कहा है कि नैष्ठिक श्रावक को भूमि आदि दश प्रकार के दान, भूल कर भी नहीं देना चाहिए क्योंकि इससे सम्यक्त्व का घात और हिंसा होती है। अतएव जब सम्यक्त्व का भी घात होता है तो ये दश प्रकार के दान सम्यक्त्वी को भी नहीं देना चाहिए।

श्रावकधर्मसंग्रह, दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 159.183 एवं **श्रावक.धर्म.संहिता,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 115.123

दातार के पाँच भूषण

1. आनन्दपूर्वक दान देना।
2. आदरपूर्वक दान देना।
3. प्रिय वचनपर्वक दान देना।
4. निर्मल भावपूर्वक दान देना।
5. दान देकर अपना धन्य भाग्य मानना।

दातार के सात गुण

1. दान के योग्य यही पात्र है – ऐसा दृढ़ परिणाम होना, सो **श्रद्धागुण** है।
2. प्रमादरहितपना होना, सो **शक्तिगुण** है।
3. पात्र के गुणों में आदर होना, सो **भक्तिगुण** है।
4. दान की पद्धति का जानना, सो **विवेक या विज्ञानगुण** है।
5. दान देने की सामर्थ्य का होना, सो **अलुब्धगुण** है।
6. सहनशीलता का होना, सो **क्षमागुण** है।
7. भले प्रकार दान देने का स्वभाव होना, **त्यागगुण** है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अनुसार दातार के सात गुण

1. फल की अपेक्षारहितपना।
2. क्षमावानपना।
3. निष्कपटीपना।
4. ईर्ष्यारहितपना।
5. खेदभावरहितपना।
6. हर्षभावपना।
7. निरभिमानीपना।

उक्त गुणों में और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के सात गुणों में यत्किंचित् ही अन्तर है। अनेक गुणों में समानता ही है।

दान का फल

निर्दोष एवं विधिपूर्वक पात्रदान करने से गृहस्थों के आरम्भ सम्बन्धी षट्कर्म जनित पापों का नाश हो जाता है, सातिशय पुण्य का बन्ध होता है। तपस्वी मुनियों को नमस्कार करने से उच्च गोत्र का बन्ध होता है, दान देने से दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है और भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से कीर्ति होती है। पात्र को दिया हुआ दान उत्तम फलयुक्त वृक्ष के समान सुखदाई और मनवांछित फल को उत्पन्न करने वाला होता है। दान के फल से मिथ्यादृष्टि भोगभूमि के सुख, और सम्यग्दृष्टि स्वर्ग के सुख भोगता हुआ परम्परा से मोक्ष पाता है। दान के फल की महिमा यहाँ तक है कि तीर्थंकर भगवान का प्रथम पारणा कराने वाला तद्भव मोक्षगामी होता है।

कुपात्रदान के फल से कुभोगभूमि के सुख तधा समदत्ति और दयादत्ति से पुण्य का बन्ध होकर, स्वर्ग के सुख मिलते हैं। इसके विपरीत अपात्रों को दान देना पापबन्ध करने वाला दुखदाई है क्योंकि इससे मिथ्यात्व तथा पाप की वृद्धि होती है, जिससे दाता और पात्र दोनों को नी गति की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर यह **प्रश्न** उत्पन्न हो सकता है कि इस कलिकाल में योग्य पात्र की प्राप्ति तो दुर्लभ हो गई है, फिर हम किसकी वैयावृत्ति करें ? किसको दान देवें ?

उसका **समाधान** यह है कि यदि उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों की यथायोग्य सेवा सहायता करना चाहिए; उनके श्रद्धान ज्ञान आचरण की वृद्धि का पूरा पूरा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वे उत्तम पात्र बनने के उत्साही हों। इसके सिवाय पंच परमेष्ठी गर्भित जिनबिम्ब की पूजन करना चाहिए, यही उत्तम दान एवं उत्कृष्ट वैयावृत्ति के फल को देने वाले हैं।''

श्री दरयावसिंह सोधिया, श्रावकधर्मसंग्रह, पृष्ठ 159–183 के आधार पर

वर्तमान में इस परम्परा में ह्रास परिलक्षित हो रहा है; इसलिए सदाचार को स्थिर रखने के लिए **अतिथिसंविभागव्रत** के पालन करने पर दृढ़ता से ध्यान देना आवश्यक है।

नैष्ठिक श्रावक के आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियाँ : ग्यारह प्रतिमाएँ

श्रावक, अपने आचार के विकास हेतु मूलभूत व्रतों का पालन करता हुआ सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ चारित्र में प्रवृत्त होता है। उसके इस चारित्रिक विकास या आध्यात्मिक उन्नति के कुछ सोपान हैं, जो शास्त्रीय भाषा में प्रतिमा या अभिग्रह.विशेष कहे जाते हैं। वस्तुतः ये प्रतिमाएँ श्रमण.जीवन की उपलब्धि के द्वार हैं। जो इन सोपानों का आरोहण कर उत्तरोत्तर अपने आचार का विकास करता जाता है, वह श्रमण.जीवन के निकट पहुँचने का अधिकारी बन जाता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक विशेष पुरुषार्थपूर्वक स्वरूप.स्थिरता बढ़ा कर, पंचम गुणस्थान प्राप्त करता है, उसे जो स्वरूप.स्थिरता अर्थात् वीतरागता की वृद्धि होती है और रागांश घटते हैं, उसे निश्चय प्रतिमा कहते हैं। उसके साथ जो कषाय.मन्दतारूप भाव रहते हैं, उसे व्यवहार प्रतिमा कहते हैं। इन सबके साथ बाह्य प्रवृत्ति भी तदनुकूल होती ही हैं। पंचम गुणस्थान के योग्य अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण – इन दो कषाय चौकड़ी के अभावरूप स्वरूप.स्थिरता के अभाव में होने वाले भाव एवं बाह्य प्रवृत्ति मात्र प्रतिमा नहीं है। प्रतिमाधारी श्रावक को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की तुलना में संसार शरीर और भोगों के प्रति आसक्ति कम होने लगती है। साथ ही उस भूमिका के योग्य अशुभभावों को छोड़ने की प्रतिज्ञा लेने का भाव आता है और सहज ही बिना हठ के बाह्य आचरण में भी तदनुकूल परिवर्तन हो जाते हैं।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं –

संयम अंश जग्यौ जहां, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम।।

नाटक समयसार, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द 58

अर्थात् जहाँ आंशिक संयम प्रगट हो जाता है, भोगों के प्रति अरुचि भाव उत्पन्न हो जाता है, तथा प्रतिज्ञा धारण कर ली जाती है, उसे **प्रतिमा** कहते हैं।

उपर्युक्त साधक की अन्तरंग शुद्धि व बाह्य दशा किस किस प्रतिमा में कितनी कितनी बढ़ती जाती है, उसी को आचार्यों ने ग्यारह दर्जों में विभाजित करके समझाया है। वहाँ रहने वाली अन्तरंग शुद्ध दशा को ज्ञानधारा और साथ ही रहने वाले शुभाशुभ भावों को कर्मधारा कहा जाता है।

ध्यान रहे कि किसी मिथ्यादृष्टि जीव को स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान व रमणता नहीं हो और मात्र कषाय की मन्दता एवं तदनुकूल बाहर की क्रियाएँ हठपूर्वक हो रही हों, परन्तु यह कदापि सम्भव नहीं है कि साधक जीव को स्वरूपानन्द की अनुभूति, उस उस प्रतिमा के योग्य हो गई हो तथा उसे उस उस प्रतिमा में निषिद्ध विकल्प अन्दर में उठते रहें या निषिद्ध बाह्य क्रियाएँ होती रहें। यही निश्चय.व्यवहार की सन्धि है। यद्यपि इस दशा में शिथिलताजन्य यत्किंचित् दोष लगने की सम्भावना होती है, जिन्हें अतिचार कहा जाता है, परन्तु वह साधक उसे भी स्वरूप.स्थिरता एवं प्रायश्चित्त के बल पर दूर करता जाता है।

ग्यारह प्रतिमाओं के नामों का उल्लेख करने वाली द्वादशानुप्रेक्षा (बारसाणुवेक्खा) की निम्न गाथा द्रष्टव्य है –

दंसण.वय.सामाइय, पोसह.सच्चित्त.राइभत्ते य।
बंभाऽरंभ.परिग्गह, अणुमणमुच्छिट्ठ देसविरदे य।।69।।

अर्थात् दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा, प्रोषधोपवासप्रतिमा, सचित्तत्यागप्रतिमा, दिवामैथुन. त्यागप्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरम्भत्यागप्रतिमा, परिग्रहत्यागप्रतिमा, अनुमतित्यागप्रतिमा और उद्दिष्टत्याग. प्रतिमा – ये देशव्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं।

ग्यारह प्रतिमाओं को उत्तम मध्यम और जघन्य – इन तीन विभागों में भी विभाजित किया गया है। प्रथम छह प्रतिमाओं को जघन्य, उसके बाद सातवीं से नौवीं प्रतिमा तक मध्यम और अन्तिम दो प्रतिमाओं को उत्कृष्ट माना गया है।

प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक की सामान्य विशेषताएँ

1. सामान्यतः नैष्ठिक श्रावक को प्रतिमाधारी श्रावक भी कह सकते हैं।
2. प्रतिमाओं के अनेक गुणों के आधार पर ग्यारह स्थान निश्चित किये गये हैं।
3. उक्त ग्यारह स्थानों में उत्तर उत्तर के स्थान, पूर्व पूर्व के स्थानों की क्रियाओं से सहित और विशेष विशेष शुद्धिसहित होते हैं। जैसे, जो ब्रह्मचर्यप्रतिमा को धारण करता है, उसके दर्शन व्रत आदि छह प्रतिमाओं का आचरण नियम से होता है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिए।
4. उक्त ग्यारह प्रतिमाओं के क्रम का उल्लंघन कभी नहीं होता है। जैसे, कोई तीसरी या चौथी प्रतिमा तो ले ले और दूसरी प्रतिमा का पालन न करे।
5. पाक्षिक और साधक श्रावकों से नैष्ठिक श्रावकों की श्रेणी अलग मानी गई है। पाक्षिक श्रावक तो संयम का अभ्यास करता है, जबकि साधक श्रावक सल्लेखना का धारक होता है – इन दोनों के बीच की अवस्था नैष्ठिक श्रावकों की होती है।
6. उक्त समस्त प्रतिमाएँ मुनिधर्म का अभ्यास कराने वाली हैं और मुनिधर्म का प्राप्त करने में अत्यन्त साधक हैं।
7. जहाँ प्रारम्भिक छह प्रतिमाधारी जघन्य श्रावकों को 'गृहस्थ' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं; सातवीं से नौवीं प्रतिमा के धारक मध्यम श्रावकों को 'वर्णी' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं, वहीं अन्तिम दो प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों को 'भिक्षु' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।[125]

अब, प्रत्येक प्रतिमा का संक्षेप में वर्णन करते हैं –

1. दर्शनप्रतिमा

देव.शास्त्र.गुरु की भक्ति द्वारा जिसने अपने श्रद्धान को दृढ़ कर लिया है और जो संसार विषय और भोगों से विरक्त हो चला है; वह निर्दोष अष्ट मूलगुणों का पालन करता हुआ दर्शनप्रतिमा का धारी श्रावक कहलाता है।

पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

आठ मूलगुण संग्रहै, कुव्यसन क्रिया न कोई।
दर्शनगुण निर्मल करै, दर्शनप्रतिमा सोई।।59।।[126]

दर्शनप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ

1. दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक सम्यग्दर्शन से सहित अवश्य होता है।
2. दार्शनिक श्रावक, मद्य माँस और मधु का न तो स्वयं सेवन करता है और न इन वस्तुओं का व्यापार करता है, न दूसरों से कराता है और न उसकी सम्मति देता है।
3. मद्य.माँस के सेवन करने वाले व्यक्तियों से अपना सम्पर्क भी नहीं रखता है।
4. पंच उदम्बर फलों सहित सप्त व्यसन का त्यागी होता है।
5. न्यायानुकूल ही आजीविका करने वाला होता है।
6. चर्म.पात्र में रखे हुए घृत, तैल या जल का भी उपभोग नहीं करता है।
7. रात्रि.भोजन का त्याग करने के साथ जल छान कर पीता है और सप्त व्यसन का त्यागी होता है।

8. यह श्रावक नियन्त्रितरूप में ही विषय.भोगों का सेवन करता है।
9. यह जीव बारह व्रतों का भी अभ्यासरूप में पालन करता है, लेकिन अतिचारों की अधिकता के कारण व्रती श्रावक की संज्ञा नहीं पाता है।

अविरत सम्यक्त्व और दर्शनप्रतिमा में अन्तर

1. अविरत सम्यक्त्व का चौथा गुणस्थान होता है, जबकि दर्शनप्रतिमा से पाँचवे गुणस्थान का प्रारम्भ हो जाता है।
2. अविरत सम्यग्दृष्टि को असंयम नामक औदयिक भाव होता है, जबकि दर्शनप्रतिमाधारी को संयमासंयम नामक क्षयोपशमभाव होता है।
3. अविरत सम्यक्त्वी के चारित्र को सम्यक्त्वाचरणचारित्र कहते हैं तो दर्शनप्रतिमाधारी के चारित्र को विकल संयमाचरणचारित्र या देशचारित्र भी कहते हैं।
4. अविरत सम्यक्त्व में श्रद्धान की मुख्यता होती है क्योंकि यहाँ तक चौथा गुणस्थान होता है तो दर्शनप्रतिमाधारी के चारित्र की मुख्यता प्रारम्भ हो जाती है।
5. अविरत सम्यक्त्वी को यद्यपि अविरति माना गया है, परन्तु उसके भी अनन्तानुबन्धीजनित अविरति नहीं होती, जबकि दर्शनप्रतिमाधारी को व्रतप्रतिमा नहीं होने पर भी अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण. जनित अविरति नहीं होती।
6. अविरत सम्यक्त्वी भी यद्यपि अनेक क्रियाओं का पालन करता है, परन्तु उसे नियमरूप या प्रतिज्ञारूप में कोई भी क्रिया नहीं होती; जबकि दर्शन.प्रतिमाधारी को अनेक क्रियाएँ नियमरूप में भी होती हैं, तथापि वह अनेक क्रियाओं को व्रतप्रतिमा नहीं होने के कारण अभ्यासरूप में पालन करता है।

2. व्रतप्रतिमा

माया, मिथ्यात्व और निदान – इन तीन शल्यों से रहित होकर निरतिचार पंचाणुव्रत और सप्त शीलव्रतों को धारण करने वाला श्रावक, **व्रतिक** या **व्रती** कहलाता है। इस प्रतिमा के योग्य शुद्ध परिणति, **निश्चयप्रतिमा** कहलाती है और बारह व्रतों के मन्द कषायरूप भाव, **व्यवहारप्रतिमा** कहलाते हैं।

पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

पांच अणुव्रत आदरै, तीन गुणव्रत पाल।
शिक्षाव्रत चारों धरै, यह प्रतिमा चाल।।60।।

अर्थात् जो पांच अणुव्रतों का आदर करता है, तीन गुणव्रतों का पालन करता है और चार शिक्षाव्रतों को धारण करता है; वह व्रतप्रतिमा का धारक कहलाता है।

व्रतप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ

1. पहली दर्शनप्रतिमा में प्राप्त विशुद्धि को बढ़ाने वाला श्रावक, दूसरी व्रतप्रतिमा को प्राप्त करता है।
2. यह श्रावक, अष्ट मूलगुणों का निरतिचार पालन करता है तथा अनेक उत्तरगुणों को भी धारण करता है अर्थात् इस प्रतिमा में पाँच अणुव्रतों का निरतिचार एवं सप्त शीलों का अभ्यासरूप में पालन होता है। निरतिचार से भी तात्पर्य यह है कि यदि कदाचित् कषायवश उन व्रतों में भी दोष लगे तो उन्हें प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करता है।
3. यह श्रावक, स्थूल अपेक्षा रात्रि.भोजन का पूर्ण त्याग करता है।
4. यह श्रावक, अन्तराय टाल कर भोजन करता है। भोजन के समय व अन्य आवश्यक क्रियाओं के समय मौन रखता है। आवश्यक क्रियाओं से तात्पर्य भोजन, शव.दाह.क्रिया, मल.मूत्र.क्षेपण, स्नान, पूजन आदि से है। मौन से तात्पर्य लौकिक कार्यों से मौन है, प्रभु.स्मरण आदि से नहीं।

5. यह श्रावक, चमड़े की किसी भी वस्तु का उपयोग नहीं करता है; इसी प्रकार भेड़ आदि के बालों से बने ऊनी वस्त्रों का भी वह त्याग करता है।
6. यह श्रावक, गृहस्थ श्रावक के लिए कथित षट् आवश्यक कार्यों को अत्यन्त दृढ़ता से पालन करता है।

दर्शनप्रतिमा और व्रतप्रतिमा में अन्तर

1. यद्यपि पाँच अणुव्रतों की प्रवृत्ति तो दर्शनप्रतिमा से ही प्रारम्भ हो जाती है; तथापि उनका पालन वहाँ अभ्यासरूप में ही होता है; अतः अणुव्रतों का अतिचाररहित पालन करना सम्भव नहीं होता। जबकि व्रतप्रतिमा में अणुव्रतों का निरतिचार पालन होता है तथा उनका पालन अत्यन्त दृढ़ता के साथ किया जाता है।
2. कोई कोई विचारकों ने दर्शनप्रतिमा को चतुर्थ गुणस्थान के अन्तर्गत स्वीकार किया है क्योंकि यहाँ व्रतों का निरतिचार पालन नहीं होता है; परन्तु इस मत के विरुद्ध अनेक आचार्यों ने दर्शनप्रतिमा को पंचम गुणस्थान में ही स्वीकार किया है क्योंकि दर्शनप्रतिमा में प्रतिज्ञा का प्रारम्भ हो जाता है, भले ही वह व्रतप्रतिमा के समान न हो।

3. सामायिकप्रतिमा

जिस श्रावक की बुद्धि निरतिचार सम्यग्दर्शन, निरतिचार मूलगुण और निरतिचार उत्तरगुणों के समूह के पालन करने से विशुद्ध हो गई है; ऐसा श्रावक, प्रातः दोपहर और सन्ध्या – इन तीनों कालों में उपसर्ग और परीषह के उपस्थित होने पर भी साम्य परिणाम को धारण करता हुआ मन.वचन.काय की एकाग्रता को स्थिर बनाये रखता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है। वही पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

द्रव्य भाव विधि संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।
तजि ममता समता गहै, अन्तर्मुहूरत एक।।61।।
जो अरि मित्र समान विचारै, आरत रौद्र कुध्यान निवारै।
संयमसहित भावना भावै, सो सामायिकवन्त कहावै।।62।।

सामायिकप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ

1. दूसरी प्रतिमा में ग्रहण किये गये सामायिक व्रत को जब और अधिक विशुद्धि के साथ आगमोक्त विधि से धारण किया जाता है, तब सामायिक प्रतिमा होती है।
2. सामायिक का उद्देश्य आत्मा की शक्ति का केन्द्रीकरण करना है।
3. यह श्रावक, तीनों सन्ध्याकालों में कम से कम दो घड़ी और मध्यम रीति से चार घड़ी और उत्कृष्ट रीति से छह घड़ी की सामायिक करता है।
4. सामायिक करने वाले व्यक्ति को अन्तरंग.बहिरंग परिग्रह की चिन्ता से दूर रह कर खड्गासन या पद्मासन मुद्रा में मन.वचन.काय के व्यापार को शुद्ध रख कर, सामायिक करते समय प्रत्येक दिशा में एक एक कायोत्सर्ग के पश्चात् **'णमो अरहंताणं'** इस आद्य सामायिक दण्डक और **'थोस्सामि हं'** इस अन्तिम स्तविक दण्डक के तीन तीन आवर्त एवं एक एक शिरोनति करना चाहिए।
5. उक्त प्रतिमा का धारक पुरुष, न्यायपूर्वक आजीविका करता हुआ, लोक में उत्तम पदों को ग्रहण करता हुआ, घर.कुटुम्ब का पालन करता हुआ, इस प्रतिमा को धारण कर सकता है।
6. सामायिक करते समय ऐसे स्थान का चुनाव करना चाहिए; जहाँ एकान्त हो, जन.सम्पर्क न हो, जीव. जन्तुओं की बाधा न हो तथा वह स्थान न तो अति ठण्डा हो और न अति गर्म हो।
7. सामायिक करते समय कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ.अलाभ, शत्रु.मित्र, इष्टवियोग.अनिष्टसंयोग, आदि के प्रति समभाव रखना आवश्यक है।

8. सामायिक करते समय निश्चय से अपने चैतन्यमात्र शुद्धस्वरूप का ध्यान करते हुए उसी का चिन्तन. मनन.एकाग्रता आदि करना चाहिए।
9. यदि शुद्धस्वरूप में एकाग्रता प्राप्त नहीं हो पा रही है तो ऐसी स्थिति में अरहन्तादि परमात्मा, जिनबिम्ब; अथवा पंच परमेष्ठी के वाचक णमोकार मन्त्र आदि; जिनवाणी, जिनधर्म अथवा कृत्रिम.अकृत्रिम चैत्यालय; अथवा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप, तीन लोक, अनित्यादि वैराग्य भावनाओं; अथवा समवसरण में विराजमान उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से तीर्थंकर अरहन्त जिन; अथवा सिद्ध भगवान के अष्ट गुणों से युक्त स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। उक्त विषयों का ध्यान न हो पाने की स्थिति में अथवा अनुकूल. प्रतिकूल प्रसंगों में कर्म के विपाक का चिन्तवन करना चाहिए अर्थात् यह विचार करना चाहिए कि कर्म के उदय कैसे कैसे आते हैं ? मुझे इन सबमें समभाव रखना है, परिणामों को विचलित नहीं करना है, आदि चिन्तवन करना भी पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत आता है।
10. सामायिक करता हुआ श्रावक, मुनि के तुल्य हो जाता है – ऐसे श्रावक की तुलना रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उस मुनि से की गई है, जिस पर कि उपसर्ग के काल में वस्त्र डाल दिया गया हो। ऐसा वर्णन मूलाचार सर्वार्थसिद्धि चारित्रसार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में भी किया गया है।
11. सामायिक से सम्बन्धित अनेक दोष भी जिनागम में बतलाये गये हैं, उनका वर्णन अन्यत्र अतिचारों के प्रकरण में किया गया है; अतः वहाँ से जानना चाहिए।

सामायिकव्रत और सामायिकप्रतिमा में अन्तर

1. सामायिकव्रत का समावेश दूसरी व्रतप्रतिमा में चार शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत किया गया है; जबकि सामायिकप्रतिमा पृथक् से तीसरी प्रतिमा मानी गई है।
2. सामायिकव्रत में सामायिक अतिचारसहित होती है; जबकि सामायिकप्रतिमा में होने वाली सामायिक निरतिचार मानी गई है।
3. सामायिकव्रत में तीनों काल की सामायिक करने का नियम नहीं है; जबकि सामायिकप्रतिमा में तीनों काल की सामायिक नियम से होती है; लेकिन उसमें भी उत्तम मध्यम जघन्य के भेद हो सकते हैं।
4. सामायिकव्रत, शिक्षाव्रत होने से उसका धारक कभी किसी कारणवशात् सामायिक न भी करे – ऐसा सम्भव है; जबकि सामायिकप्रतिमा में ऐसा करना सर्वथा निषिद्ध है।
5. सामायिकव्रत वाला श्रावक, सामान्य दिनों की अपेक्षा पर्व के दिनों में विशेष सामायिक करता है; जबकि सामायिकप्रतिमाधारी को ऐसा कोई नियम नहीं है।

4. प्रोषधोपवास.प्रतिमा

प्रतिमाह दो अष्टमी और दो चतुर्दशी – इस प्रकार चार पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को नहीं छिपा कर, चार प्रकार के आहार का त्याग कर, अथवा नीरस आहार या अल्प आहार या छाछ आदि मात्र लेकर (शुभ) धर्मध्यान में लीन होकर प्रोषधपूर्वक नियम से सर्व सावद्ययोग का त्याग करके उपवास करने वाला चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारक कहलाता है। उसे संसार शरीर और भोगों के प्रति आसक्ति घट जाती है; अतः आहार आदि का त्याग करके उपवास की प्रतिज्ञा लेता है।

प्रोषधोपवास के सामान्यतया दो अर्थ प्राप्त होते हैं –

पहले अर्थ के अनुसार प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन करना और उपवास का अर्थ चारों प्रकार के आहार का त्याग है। इस प्रकार धारणे पारणे के दिन प्रोषध करते हुए पर्व के दिन उपवास करना, प्रोषधोपवास कहलाता है।

दूसरे अर्थ के अनुसार प्रोषध का ही अर्थ पर्व है, अतः पर्व के दिनों में जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं।

लाटी संहिता में एक विशेष अर्थ दिया है कि प्र अर्थात् प्रकृष्ट या उत्कृष्ट, औषध अर्थात् रोगनाशक और उपवास अर्थात् अनशन। तात्पर्य यह है कि उपवास ही जन्म.मरणरूपी रोग को नष्ट करने वाली परम या उत्कृष्ट औषधि है – ऐसा प्रोषधोपवास का अर्थ है।

उपवास की व्याख्या, आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है –

1. जहाँ कषाय, इन्द्रियों के विषय और आहार – इन तीनों का त्याग किया जाता है; उसे उपवास कहते हैं।
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तीर्थंकर गणधर आदि मुनीन्द्रों ने उपशमन को उपवास कहा है।
3. अनगार धर्मामृत में उपयोग को इन्द्रियों के अपने अपने विषयों से हटा कर शुद्धात्मस्वरूप में लीन होने को उपवास कहा है।
4. सर्वार्थसिद्धि के अनुसार उप माने समीप, और वास माने रहना अर्थात् चार प्रकार के आहार का त्याग करके अपनी आत्मा के समीप वास करना, उपवास कहलाता है।

उपवास हमेशा यथाशक्ति ही करना चाहिए – इस सम्बन्ध में आचार्यों/विद्वानों ने अनेक मन्तव्य दिये हैं। धवलाकार लिखते हैं कि जो पित्त के प्रकोप वश उपवास करने में असमर्थ हैं तथा जिन्हें आधे आहार की अपेक्षा उपवास करने में अधिक थकान होती है; उन्हें अवमौदर्य या ऊनोदर नामक तप करना चाहिए। जबकि सागार धर्मामृत में लिखा है कि उपवास करने में असमर्थ श्रावकों को जल छोड़ कर चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। अल्प आहार और नीरस आहार का ग्रहण भी किया जा सकता है क्योंकि शक्ति के अनुसार किया गया तप ही कल्याण के लिए होता है।

प्रोषधोपवास के तीन भेद बताये गये हैं – 1. उत्तम प्रोषधोपवास, 2. मध्यम प्रोषधोपवास और 3. जघन्य प्रोषधोपवास।

उपवास से पूर्व दिन में भोजनोपरान्त मध्याह्न में समस्त आरम्भ से मुक्त होकर तथा शरीरादिक में ममत्व को त्याग कर, उपवास को अंगीकार करे। पश्चात् किसी एकान्त स्थान में जावे, वहाँ सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर त्रिगुप्तिपूर्वक सामायिक में स्थित होवे, पश्चात् यदि कुछ अन्य धर्मकार्य करना हो तो उन्हें अपने प्रमाणानुकूल क्षेत्र में ही करे। पश्चात् सन्ध्याकालीन सामायिक करके पठन पाठन द्वारा निद्रा को जीतता हुआ पवित्र एवं प्रासुक जीवाणुरहित चटाई आदि पर रात्रि व्यतीत करे। तदुपरान्त प्रातः उठ कर आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर स्नान करके प्रासुक द्रव्यों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे। पश्चात् पूर्वोक्त विधि से दिन और रात्रि को व्यतीत करके तीसरे दिन के भी आधे भाग को अतिशय यत्नाचारपूर्वक व्यतीत करे। पश्चात् आहारदानपूर्वक स्वयं भोजन ग्रहण करे। इस प्रकार उत्तम प्रोषधोपवास का संक्षेप में स्वरूप जानना चाहिए।

उत्तम प्रोषधोपवास की विशेषताएँ

- यह प्रोषधोपवास सोलह पहर अर्थात् 48 घण्टे का होता है।
- यह श्रावक, पर्व के दिनों में स्नान, विलेपन, आभूषण, स्त्रीसंसर्ग, पुष्प, इत्र, धूप आदि का त्याग होता है।
- यह श्रावक, उक्त समय के लिए समस्त आरम्भ, व्यापार, सेवा, लेनदेन आदि का त्याग करता है।
- यह श्रावक, शरीर एवं उसके सम्बन्धियों के प्रति भी ममत्व का त्याग करता है।
- यह श्रावक, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सूने एकान्त घर, जिन.मन्दिर, एकान्त स्थान, चैत्यालय, निर्जन स्थान, मठ आदि में निवास करता है।

- चार प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करता है।
- कषाय उत्पन्न होने के प्रसंगों में भी कषाय नहीं करता है।
- कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए पंचेन्द्रियों के विषयों से अपने को दूर रखता है।
- ब्रह्मचर्य का अच्छी तरह पालन करता है।
- नाटक सिनेमा देशाटन तथा मधुर संगीत आदि से भी अपने को दूर रखता है।

मध्यम प्रोषधोपवास की विशेषताएँ

- सामान्यतया यह प्रोषधोपवास, 12 पहर अर्थात् 36 घण्टे, अथवा 14 पहर अर्थात् 42 घण्टे का होता है।
- इसके अलावा इस प्रोषधोपवास के और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं।
- यह प्रोषधोपवास धारणा और पारणा के एकासन से रहित होता है तथा पर्व के दिन उपवास से सहित होता है। साथ ही वह उपवास के दिन जल भी ग्रहण कर सकता है।
- इस प्रोषधोपवास में यदि श्रावक को कोई बहुत जरूरी कार्य हो तो सावद्य (पाप) रहित होकर तत्सम्बन्धी आरम्भ भी कर सकता है।
- सामान्यतया उत्तम प्रोषधोपवास की अन्य क्रियाएँ इस अवधि तक यहाँ भी लागू होती हैं।

जघन्य प्रोषधोपवास की विशेषताएँ

- जो श्रावक, सोलह से बारह प्रहर तक निराहार नहीं रह सकता है तथा जिसे आहार के बिना आकुलता हो जाती है; वह पर्व के दिन रसरहित, स्वादरहित, सादा भोजन, एक बार, अल्प मात्रा में ग्रहण करके अगले दिन उसी समय तक निराहार रहता है; अतः उस श्रावक का आठ प्रहर अर्थात् चौबीस घण्टे तक आहार का त्याग होने से जघन्य प्रोषधोपवास कहलाता है।
- यद्यपि जघन्य प्रोषधोपवासी का भी पर्व की पूर्व रात्रि में रात्रिभोजन सम्भव नहीं है; इस दृष्टि से यह व्रत छत्तीस घण्टे तक भी माना गया है।
- भोजन सम्बन्धी उक्त विवेचन के अलावा अन्य धर्मक्रियाओं को यह जघन्य प्रोषधोपवासी भी अपनी अपनी सुविधानुसार पालन करता है।

प्रोषधोपवासव्रत और प्रोषधोपवासप्रतिमा में अन्तर

- प्रोषधोपवासव्रत दूसरी व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत दूसरा शिक्षाव्रत है; जबकि प्रोषधोपवासप्रतिमा पृथक् से चौथी प्रतिमा है।
- जो अन्तर सामायिकव्रत और सामायिकप्रतिमा में पहले बताये गये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।
- प्रोषधोपवासव्रत अभ्यासरूप होने से अतिचारसहित होता है; जबकि प्रोषधोपवासप्रतिमा प्रतिज्ञारूप होने से उसका पालन निरतिचार होता है।
- दूसरी व्रतप्रतिमा में कोई श्रावक कदाचित् प्रोषधोपवास नहीं भी करता है; जबकि प्रोषधोपवासप्रतिमा में उत्तम, मध्यम या जघन्य; किसी न किसी प्रकार के प्रोषधोपवास का पालन करना अनिवार्य माना है।

उपवास और अनशन में अन्तर

- सामान्य दृष्टि से उपवास और अनशन शब्द के प्रयोग एकार्थ में ही किये जाते हैं। जबकि शाब्दिक, आध्यात्मिक एवं भावनात्मक दृष्टि से दोनों में कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होता है।
- उपवास का अर्थ पर्व आदि के दिनों में पाप से दूर रह कर, धर्म या आत्मा में वास करना है; जबकि अनशन से तात्पर्य नियत काल के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना है।

- जहाँ उपवास हमें क्या करना चाहिए – यह बताता है; वहीं अनशन हमें यह बताता है कि उपवास के दिनों में हमें क्या नहीं करना चाहिए अर्थात् उपवास अस्तिवाचक है तो अनशन नास्तिवाचक है।
- प्रोषधोपवास की विशेषताओं को जानने से यह ज्ञात होता है कि उपवास में आहार.त्याग की अपेक्षा धर्म और धर्मायतन में वास करने को अधिक महत्त्व दिया गया है।
- तात्पर्य यह है कि उपवास, अनशन के साथ भी किया जा सकता है तथा ऊनोदर वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग के साथ भी किया जा सकता है।
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो यहाँ तक कहा गया है कि तीर्थंकर गणधर आदि मुनीन्द्रों ने उपशमन को उपवास कहा है; इसलिए जितेन्द्रिय पुरुष भोजन करते हुए भी उपवासी होते हैं।

इस प्रकार उपवास और अनशन को एकार्थवाची नहीं कहा जा सकता है।

सामायिक और प्रोषधोपवास में परस्पर सम्बन्ध

इस सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं –

सामायिकसंस्कारं, प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकतुम्।
पक्षाऽर्द्धयोर्द्वयोरपि, कर्तव्योऽवश्यमुपवासः।।151।।

अर्थात् प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिकरूप संस्कार को स्थिर करने के लिए दोनों शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के अर्द्धभाग एवं उनके पूर्ण होने पर अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास अवश्य करना चाहिए। इससे शुद्ध सामायिक करने की भावना दृढ़ होती है तथा विषय कषाय से चित्त विरक्त होता है।

पण्डित बनारसीदासजी भी प्रोषधप्रतिमा को सामायिक से जोड़ते हुए लिखते हैं –

सामायिक की सी दशा, चार पहरलों होय।
अथवा आठ पहर रहे, प्रोषध प्रतिमा सोय।।63।।

अर्थात् प्रथम सामायिक प्रतिमा में सामायिक की दशा चार पहर अर्थात् 12 घण्टे तक होती थी, लेकिन जब सामायिक की दशा कम से कम आठ पहर अर्थात् 24 घण्टे तक हो जाती है, उसे प्रोषधप्रतिमा कहते हैं।

5. सचित्तत्यागप्रतिमा

पूर्व की चार प्रतिमाओं का पालन करने वाले दयालु श्रावक के द्वारा जीवसहित सचित्त हरे साग सब्जी फल फूल आदि का भक्षण नहीं किया जाता है; यही सचित्तत्यागप्रतिमा है।

पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्रासुक नीर।
सो सचित्तत्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञा गीर।।64।।

इस प्रतिमा के माध्यम से प्राणिसंयम के पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। संयम दो प्रकार का होता है – प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम। तात्पर्य यह है कि पांचवीं छठवीं और सातवीं प्रतिमाओं के माध्यम से उक्त दोनों संयम पालन को अतिदृढ़ किया जाता है।

प्राणिसंयम के स्थूल त्रसहिंसा और स्थूल स्थावरहिंसा का त्याग तो पहले ही हो चुका है। अब यहाँ उसके सूक्ष्मस्वरूप का भी त्याग होता है। वनस्पतिकाय, स्थावरकाय का एक भेद है। उस वनस्पति के दो भेद हैं – साधारण और प्रत्येक। साधारण वनस्पति का त्याग तो पहले ही अनन्तकायत्याग या बहुघातत्याग के अन्तर्गत हो चुका है। प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं – सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। सप्रतिष्ठदशा में प्रत्येक वनस्पति भी साधारण वनस्पति के समान होती है। लेकिन अप्रतिष्ठितदशा में उसमें अनन्तकायपना

नहीं होने से एक जीव का वास ही होने से अप्रतिष्ठित प्रत्येकदशा में भी सचित्त होने से पंचम प्रतिमाधारी सचित्तत्यागी श्रावक उसका भक्षण नहीं करता, लेकिन अचित्त करके उसका भक्षण कर लेता है। अचित्त करने के लिए उसे सुखाना, अग्नि में पकाना, चाकू से टुकड़े टुकड़े करना आदि क्रियाएँ शामिल हैं।

प्रश्न – पानी या वनस्पति आदि सचित्त पदार्थों को अचित्त करने में जो जीव उस पदार्थ के आश्रित होते हैं, उनके घात का दोष आता है या नहीं ?

समाधान – यद्यपि यह दोष आता ही है, परन्तु इससे अधिक दोषों से बचने के लिए अचित्त करने का विधान है। 1. एक बार किसी पदार्थ को अचित्त करने से उसमें विद्यमान जीवों का घात तो होता है, परन्तु उसमें उत्पन्न होने वाले जीवों की सन्तति रुक जाने से आगे सम्भावित जीवों का घात रुक जाता है तथा उन जीवों का घात तो होना ही था, सचित्त भक्षण करते या अचित्त। इस प्रकार प्राणिसंयम का पालन होता है। 2. अचित्त करने से वस्तु का मूलभूत स्वाद बदल जाता है, जिससे उसे भक्षण करने में स्वादहीनता आ जाती है। इस प्रकार इसमें प्राणि.संयम के साथ इन्द्रिय.संयम का भी पालन हो जाता है। 3. सचित्त भक्षण करने पर राग की तीव्रता या गृद्धता का प्रसंग आता है क्योंकि सजीव पदार्थों का भक्षण बिना तीव्र गृद्धता के सम्भव नहीं है, इस प्रकार भावहिंसा से भी बचा जाता है।

सचित्तत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- यह प्रतिमा हमारे प्रतिदिन के भोजन से सम्बन्ध रखती है।
- इस प्रतिमाधारी को अनेक ग्रन्थों में दयालु शब्द से सम्बोधित किया है।
- चौथी प्रतिमा की तुलना में इस श्रावक के आत्मविशुद्धि और अधिक बढ़ जाने के कारण शरीर आदि के प्रति आसक्तिभाव और अधिक घट जाता है। यद्यपि शरीर की स्थिति के लिए भोजन लेने का भाव आता तो है, लेकिन सचित्त भोजन पान करने का विकल्प नहीं आता है।
- यद्यपि इस प्रतिमा का वर्णन करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में यह लिखा है –

  मूल.फल.शाक.शाखा.करीर.कन्द.प्रसून.बीजानि।

  नामानि योऽत्ति सोऽयं, सचित्तविरतो दयामूर्तिः।।141।।

  अर्थात् जो दयामूर्ति श्रावक, मूल, फल, शाक, शाखा, करीर अर्थात् कोंपल या अंकुर, कन्द, फूल और बीज को आमानि अर्थात् कच्चे या अपक्व अवस्था में नहीं खाता, वह यह सचित्तविरत श्रावक कहलाता है।

- यद्यपि इस प्रतिमाधारी का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि वह श्रावक उक्त पदार्थों को सचित्त ग्रहण नहीं करता है, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि वह श्रावक, इन अभक्ष्य पदार्थों या त्याज्य पदार्थों को अचित्त करके ग्रहण कर सकता है क्योंकि वह तो उन पदार्थों को छू भी नहीं सकता तो फिर उन्हें अचित्त कैसे करेगा ?
- आर्यिका आदिमती माताजी की टीका में कहा गया है कि जो श्रावक प्रयोजनवश हरित वनस्पति को पैर से छूने में भी अत्यन्त घृणा करता है क्योंकि उसमें अनन्तनिगोद नामक साधारण शरीर वनस्पतिकायिक जीवों का वास है तो क्या वह उस हरित वनस्पति को खायेगा ? अर्थात् नहीं खायेगा।
- इस प्रतिमा में केवल सचित्त पदार्थों के खाने का ही निषेध नहीं किया गया है, बल्कि उनके नहाने, धोने आदि क्रियाओं में उनके उपयोग करने का भी सर्वथा त्याग कराया जाता है।
- इस प्रतिमाधारी को न तो सचित्त का स्वयं भक्षण आदि करना चाहिए और न अन्य को कराना चाहिए और न ही उसे भक्षण आदि करने का उपदेश आदि देकर समर्थन करना चाहिए।

- वनस्पति के समान पानी और नमक भी अपनी प्राकृतिक अवस्था में सचित्त होते हैं। नमक को पीस लेने के बाद भी वह थोड़े ही काल में पुनः सचित्त हो जाता है क्योंकि वायु की आर्द्रता के निमित्त से उसमें तुरन्त ही जीवोत्पत्ति हो जाती है। व्रतियों को तो सेंधा नमक ही ग्राह्य है, वह भी तुरन्त का पिसा हुआ होना चाहिए। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि आजकल आयोडाइज्ड नमक का प्रचार सरकार तथा अन्य प्रचार माध्यमों से किया जाता है, लेकिन उसमें मिलाया जाने वाला आयोडीन, पशुओं की आयोडीन ग्रन्थि से प्राप्त किया जाता है; अतः उसे जैनधर्म के श्रावक एवं श्रमण, दोनों ही प्रयोग में नहीं लेते।
- सचित्त पदार्थों को अचित्त या प्रासुक करने की विधि मूलाराधना में निम्न प्रकार से बताई है –

सुक्कं पक्कं तत्तं, अंविललवणेन मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुवं भणियं।।824।।

अर्थात् सुखाना, पकाना, आग पर गर्म करना, चाकू से छिन्न.भिन्न करना, उसमें नमक आदि मिलाना – ये सब प्रासुक करने की विधियाँ हैं।

- गोम्मटसार जीवकाण्ड की कर्नाटकी वृत्ति एवं संस्कृत टीका में पाप का वर्जन करने वाले वचनों के अन्तर्गत कहा है –

कर्नाटकी वृत्ति – शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसंमिश्रदग्धादिद्रव्यंगळु प्रासुकमदु कारणदिं तत्सेवनदोळ् पापबंधमिल्लेदिंतु पापवर्ज्यवचनदंतिल्लि।

संस्कृत टीका – शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसंमिश्रदग्धादि द्रव्यं प्रासुकं ततस्तत्सेवने पापबन्धो नास्तीति पापवर्जनवचनम्।

अर्थात् सूखा हुआ, पकाया हुआ, छिन्न.भिन्न किया हुआ, खटाई या नमक मिलाया हुआ तथा जला हुआ द्रव्य प्रासुक है; अतः उसके सेवन में पापबन्ध नहीं है। इस प्रकार के पाप के त्यागरूप वचन भावसत्य है।[127]

6. रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा या दिवामैथुनत्यागप्रतिमा

जिनागम में इस प्रतिमा के दो नाम प्रसिद्ध हैं – रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा और दिवामैथुनत्यागप्रतिमा। इसके भी दो कारण परिलक्षित होते हैं –

1. जहाँ पहला नाम पूर्व की पाँचवीं सचित्तत्यागप्रतिमा से है, वहीं दूसरा नाम बाद की सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा से सम्बन्ध रखता है।

प्रश्न – यद्यपि सचित्त का दोष रात्रिभोजन से अधिक नहीं है; तथापि यहाँ सचित्तत्याग प्रतिमा के बाद रात्रिभोजनत्याग को छठी प्रतिमा क्यों स्वीकार किया गया है ?

समाधान – क्योंकि रात्रिभोजनत्याग को छठे अणुव्रत के रूप में भी मान्यता दी गई है; तथापि उसका निरतिचार पालन यहाँ छठी प्रतिमा में जाकर ही होता है; अतः उसे छठी प्रतिमा के रूप में मान्यता स्वयं आचार्य समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दे रहे हैं। वे लिखते हैं –

अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेष्वनुम्पमानमनाः।।142।।

अर्थात् सभी प्राणियों पर अनुकम्पारूप परिणामों को मन में धारण करने वाला जो पुरुष, रात्रि में **अन्न** अर्थात् अन्न से बने हुआ भोज्य पदार्थ, **पान** अर्थात् जल दूध शरबत आदि पीने योग्य पेय पदार्थ, **खाद्य** अर्थात् दूध आदि से बने हुए लड्डू पेड़ा पाक बरफी आदि पदार्थ, **लेह्य** अर्थात् स्वाद लेने योग्य इलायची लोंग औषधि आदि पदार्थ; इस प्रकार चारों प्रकार के आहार को नहीं खाता; वह **रात्रिभुक्तिविरत** नामक छठवीं प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

इसी प्रकार सातवीं प्रतिमा में जाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेना है; अतः यहाँ छठी प्रतिमा में उसके अभ्यासस्वरूप पहले दिन में ब्रह्मचर्य पालन कराने के उद्देश्य से दिवामैथुनत्याग कराया है। बाद में रात्रि में भी मैथुन का त्याग करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन हो जाता है।

इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं –

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै, तिथि आये निसि दिवस संभालै।
गहि नौ वाड़ि करै व्रत रख्या, सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या।।65।।

2. वास्तव में इस प्रतिमा के दोनों नाम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं अर्थात् जो कार्य दिन में करने योग्य है, उसे दिन में ही करना चाहिए, रात्रि में नहीं; यही **रात्रिभोजनत्याग** है। इसी प्रकार जो कार्य रात्रि में करने योग्य है, उसे रात्रि में ही करना चाहिए, दिन में नहीं; यही **दिवामैथुनत्याग** है।

रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा या **दिवामैथुनत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ**

- इस प्रतिमा में श्रावक की भोजन तथा अब्रह्म (मैथुन) दोनों प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया गया है।
- इस प्रतिमा तक जघन्य श्रावक की श्रेणी मानी गई है।
- सागार धर्मामृत और लाटीसंहिता आदि ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनी श्रावक द्वारा रात्रिभोजनत्याग को तीन स्तरों पर पालन किया जाता है –

  1. पाक्षिक श्रावक के कुलाचाररूप जघन्य स्तर पर – अन्नमात्र का त्याग करके, इसके बिना वह पाक्षिक या दार्शनिक दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक भी नहीं कहलाता। इतना करने से वह लौकिक दृष्टि से तो यह प्रतिष्ठा पाता ही है कि वह रात्रिभोजन नहीं करता, इस आचरण को भी हम मिथ्या नहीं कह सकते।

  2. दूसरी व्रतप्रतिमा मध्यम स्तर पर – सातिचार रात्रिभोजनत्यागव्रत का पालन अथवा जल या औषधि को छोड़ कर बाकी समस्त रात्रिभोजन का त्याग करके,

  3. छठवीं प्रतिमा के उत्कृष्ट स्तर पर – यहाँ तक आते आते श्रावक की विशुद्धि इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह जलादि का भी त्याग करके सर्वथा निरतिचार प्रतिज्ञापूर्वक रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा का पालन करता है। इस स्तर पर आकर यह त्याग कृत.कारित.अनुमोदना एवं मन.वचन.काय – इन नव कोटियों से हो जाता है अर्थात् न तो वह स्वयं रात्रिभोजन करता है, न दूसरों को कराता है और न करते हुए की अनुमोदना करता है।
- दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रि में भोजन करने से परिणामों में विशेष गृद्धता होती है, अतः वह अवश्य त्याज्य है। धवलाकार ने रात्रिभोजन एवं अन्य अशुद्धभोजन करने को ज्ञानावरणीकर्म के बन्ध का कारण बताया है।
- इस प्रतिमाधारी श्रावक को प्रमुखतः दो बार – दिन के दूसरे और चौथे पहर के प्रथम अर्द्धभाग में भोजन कर लेना चाहिए।
- रात्रिभोजनत्याग का अतिशय महत्त्व जैनधर्म में प्रदान किया गया है। उदाहरणार्थ –

  1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि जो पुरुष, मन.वचन.काय से रात्रिभोजन को त्याग देता है, वह निरन्तर अहिंसा का पालन करता है।

  2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जो पुरुष, रात्रिभोजन छोड़ता है, वह वर्ष में छह महिने का उपवास करता है।
- यद्यपि शास्त्रों में सच्चे शूद्र और स्त्रियों को ग्यारह प्रतिमाओं तक के पालन करने का अधिकार दिया गया है; तथापि सामान्यतः उन्हें इस प्रतिमा के पालन में कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ता

है। जैसे, सामान्य स्त्री को सन्तानादि को औषधि आदि देने, दुग्धपान आदि कराने तथा स्वयं को प्रसूति आदि के समय औषधि आदि का ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है। इसी प्रकार शूद्रों का भी सम्पर्क हीन आचरण वाले रात्रिभोजियों से विशेषरूप से रहने के कारण उन्हें भी इस प्रतिमा के पालन करने में कठिनाई होती है।

- इसी प्रकार रात्रि में मैथुन करने की तुलना में दिन में मैथुन करने वालों के परिणामों में तीव्रता अधिक होती है; अतः पहले तीव्रकषाय के कार्य का त्याग कराने की दृष्टि से दिवामैथुनत्याग का पहले त्याग कराके पश्चात् सम्पूर्ण मैथुन का त्याग सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा में कराया है।
- इस प्रतिमा का धारक मात्र काय से ही नहीं, किन्तु मन.वचन.काय और कृत.कारित.अनुमोदना से भी दिन में मैथुन का त्याग करता है।
- इसी प्रतिमा एक नाम रात्रिभक्तव्रत भी है। भक्त का अर्थ स्त्रीसेवन भी होता है, जिसे भोगना या भोजन भी कहते हैं। चारित्रसार आदि ग्रन्थों में दिन में स्त्रीसेवन का त्याग करके रात्रि में स्त्रीसेवन का व्रत ही रात्रिभुक्तिव्रत है।

7. ब्रह्मचर्यप्रतिमा

यह शरीर, माता के रुधिर व पिता के वीर्यरूप मल से उत्पन्न हुआ है; इसलिए इसका बीज, मल ही है। यह शरीर मल को ही उत्पन्न करता है; अतः यह मल की योनि है। यह सदा ही नव द्वारों से मल को ही बहाता रहता है; अतः यह महा दुर्गन्धियुक्त एवं घृणा का स्थान है – ऐसे शरीर को देखते हुए जो काम. भाव से विरक्त हो जाता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ मात्र शारीरिक मैथुन क्रिया से निवृत्ति करना ही नहीं है, बल्कि पंचेन्द्रियों के विषय.भोगों का त्याग करना भी अभीष्ट है।

ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। चारित्र आत्मा ज्ञान आदि। 'ब्रह्मनि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचारी' अर्थात् जो आत्मा में चरण करता है, अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में लीन रहता है और व्यवहार में स्त्री मात्र के सेवन का त्यागी है, वह ब्रह्मचारी है। स्त्री मात्र से आशय केवल मनुष्य जाति की स्त्रियों से ही नहीं है, अपितु देवांगना और पशु स्त्रियाँ तथा काष्ठ पाषाण आदि से निर्मित एवं चित्रों में अंकित प्रतिकृतियाँ भी अन्तगर्भित हैं। उनके सेवन का त्याग कायमात्र से नहीं, अपितु मन.वचन से भी उनके सेवन का त्याग होना चाहिए।

वही पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

जो नव वाडि सहित विधि साधै, निसि.दिन ब्रह्मचर्य आराधै।
सो सप्तम प्रतिमा धर ग्याता, सील सिरोमणि जग विख्याता।।66।।

ब्रह्मचर्यप्रतिमा की विशेषताएँ

- सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर नौवीं परिग्रहत्यागप्रतिमा तक मध्यम श्रावक की श्रेणी है।
- इस प्रतिमा की भूमिका का प्रारम्भ पाक्षिक श्रावक, सप्तव्यसन के अन्तर्गत परस्त्रीसेवनत्याग एवं वेश्यागमनत्याग से हो जाता है। उसके बाद व्रतप्रतिमा मे ब्रह्मचर्याणुव्रत में स्वस्त्रीसन्तोषव्रत के रूप में ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करता है। तत्पश्चात् छठी प्रतिमा में स्वस्त्री के साथ भी दिन में ब्रह्मचर्य से रहता है। पश्चात् वही श्रावक अपनी विशुद्धि को बढ़ा कर अपनी विवाहिता स्त्री का भी सेवन सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्यप्रतिमा को धारण करता है; परन्तु ब्रह्मचर्यभाव की पूर्णता ब्रह्मचर्य महाव्रत के रूप में मुनि अवस्था में ही होती है। पश्चात् कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से नौवें गुणस्थान में तीन वेदों का अभाव जब होता है, तब जाकर वास्तविक ब्रह्मचर्यभाव की पूर्णता मानी जाती है।
- यद्यपि सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक भी बाह्य में पूर्णरूप से ही ब्रह्मचर्य का पालन करता है; तथापि वह ब्रह्मचर्य महाव्रत का नाम नहीं पाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य महाव्रत तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में होता है, जबकि सप्तम प्रतिमा में दो कषाय चौकड़ी का ही अभाव हुआ है।

- इस प्रतिमा में ब्रह्मचर्य का पालन मन.वचन.काय और कृत.कारित.अनुमोदना – इनके परस्पर गुणनरूप नौ कोटि से होता है।
- यह श्रावक, स्वप्न में भी स्त्री या पुरुष के साथ संयोग की इच्छा नहीं करता है।
- यह श्रावक, अपनी विवाहिता स्त्री के साथ, निकट एक स्थान में शयन नहीं करता है। पूर्व में भोगे हुए भोगों की कथा वार्तालाप विचार नहीं करता है।
- कामभोग का त्याग हो जाने से उसे न तो सन्तान की वृद्धि होती है और न ही वह अधिक परिग्रह का संचय ही करता है। इस प्रकार परिग्रहपरिमाणव्रत एवं भोगोपभोगपरिमाणव्रत में उन्नति करता है।
- यह श्रावक, गृहवासी या गृहत्यागी दोनों में से किसी भी प्रकार का हो सकता है। गृहवासी श्रावक को चाहिए कि वह जब तक घर में है, तब तक सादा गृहस्थ सरीखा वेष धारण करे, सादे वस्त्र पहने और उदासीन रूप में रहे, क्षुल्लक सरीखे वेष में न रहे, लेकिन भिक्षावृत्ति करने वाला गृहत्यागी ब्रह्मचारी क्षुल्लक सरीखे वेष में रह सकता है।
- इस प्रतिमाधारी को चाहिए कि वह स्त्रीवाची संज्ञा वाली सवारियों में भी न बैठे। जैसे, हथिनी, ऊँटनी, घोड़ी आदि।
- गृहत्यागी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी को सामान्यतः दिन एक बार ही भोजन करना चाहिए। दूसरी बार सन्ध्या से पूर्व जल पीना हो तो उसका ग्रहण कर लेना चाहिए, परन्तु गृहवासी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी को अपनी शारीरिक अवस्था के अनुसार एक बार या दो बार भोजन करने का नियम रखना चाहिए।
- शील का रक्षण करने वाले पुरुष को जैसे स्त्री का त्याग करना योग्य है; उसी प्रकार शील का रक्षण करने वाली स्त्रियों को भी पुरुष का त्याग करना योग्य है।
- निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों का नाम लेने मात्र से राक्षस आदि क्रूर प्राणी भी शान्त हो जाते हैं, देवता भी सेवकों की तरह व्यवहार करते हैं तथा उन्हें विद्या और मन्त्र भी सिद्ध हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली क्रियाएँ

साधारणतया मूलाचार, दर्शनपाहुड़ की टीका, संयमप्रकाश आदि ग्रन्थों में दश प्रकार की क्रियाओं का वर्णन मिलता है, परन्तु उनमें परस्पर अन्तर भी दिखाई देता है। उक्त तीनों स्थलों के विश्लेषण करने पर निम्न क्रियाओं को स्वीकार किया जा सकता है –

1. स्त्री का संसर्ग नहीं करना चाहिए।
2. स्वादिष्ट आहार तथा बहुत भोजन नहीं करना चाहिए।
3. सुगन्धित पदार्थों से अथवा तैलादि से शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिए।
4. कोमल शय्या या आसन आदि पर न सोना और न बैठना चाहिए।
5. अलंकार आदि से शरीर का शृंगार नहीं करना चाहिए और न ही रागादिभाव से उसकी अनुमोदना करना चाहिए।
6. गीत, नृत्य आदि नहीं देखना या नहीं सुनना चाहिए।
7. अधिक धन का संग्रह नहीं करना चाहिए।
8. राजा की सेवा नहीं करना चाहिए अथवा राजनीति से प्रेरित होकर किसी पद आदि को स्वीकार नहीं करना चाहिए।
9. कुशील व्यक्तियों की संगति नहीं करना चाहिए।
10. रात्रि में इधर.उधर नहीं घूमना चाहिए।

ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली अन्य क्रियाएँ

- सुगन्धित पुष्पमाला आदि का सेवन नहीं करना चाहिए।
- कामोद्दीपन करने वाले पुष्ट आहार का त्याग करना चाहिए।
- ताम्बूल आदि राग बढ़ाने वाली वस्तुओं का दूर से ही त्याग करना चाहिए।
- राग उत्पन्न करने वाले वस्त्र आभरण आदि नहीं पहनना चाहिए।
- सादे तरीके से स्नान करना चाहिए। शरीर पर साबुन या उबटन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
- साधारण वस्त्र पहनना चाहिए।
- कपड़े के जूते ही पहनना चाहिए।
- रागोत्पादक विकथाओं को नहीं करना चाहिए। शृंगार कथा, हास्य कथारूप काव्य, नाटक आदि का पढ़ना सुनना आदि त्याग देना चाहिए।
- गीत वादित्र नृत्य आदि का सुनना या देखना छोड़ देना चाहिए।
- फूलों की माला, सुगन्ध, विलेपन, इत्र, फुलेल आदि का त्याग करना चाहिए।
- भण्ड वचन, असत्य वचन अथवा अश्लील वचन कभी नहीं बोलना चाहिए।
- हँसी मजाक के रूप में चर्चा वार्ता नहीं करना चाहिए।
- अपने बिस्तर पर अन्य किसी को नहीं सुलाना चाहिए।
- अपने बिस्तर पर कोमल वस्त्र का चादर नहीं बिछाना चाहिए।
- रूप आदि इन्द्रिय विषयों में अति प्रीति का व्यवहार नहीं करना चाहिए।
- अपने पहिनने के वस्त्रों को थोड़े से प्रासुक जल से स्वयं धोना चाहिए, दूसरों से नहीं धुलाना चाहिए।
- धार्मिक उत्सवों को छोड़ कर बाजार या मेला आदि में नहीं घूमना चाहिए।
- नेत्रों में शौक से अंजन आदि नहीं लगाना चाहिए।

ब्रह्मचारियों के भेद

चारित्रसार नामक ग्रन्थ में ब्रह्मचारियों के पाँच भेदों की चर्चा की गई है –

1. **उपनय ब्रह्मचारी** – ब्रह्मचर्य सहित विद्याभ्यासी उपनय ब्रह्मचारी कहलाता है।
2. **अदीक्षा ब्रह्मचारी** – जो ब्रह्मचारी का वेष धारण किये बिना ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है, वह अवलम्ब ब्रह्मचारी कहलाता है।
3. **अवलम्ब ब्रह्मचारी** – जो क्षुल्लक वेष धारण करके ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है, वह अवलम्ब ब्रह्मचारी कहलाता है।
4. **गूढ़ ब्रह्मचारी** – जो मुनिवेश धारण करके ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है, वह गूढ़ ब्रह्मचारी कहलाता है।
5. **नैष्ठिक ब्रह्मचारी** – जो सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करता है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है।

उक्त पाँच भेदों में प्रारम्भ के चार ब्रह्मचारी बाल्यावस्था में विद्याभ्यास मात्र के लिए व्रती या ब्रह्मचारी बने हैं। विद्याभ्यास समाप्त हो जाने के बाद वे विवाह आदि भी कर सकते हैं, परन्तु पाँचवाँ नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन ब्रह्मचर्य से रहता है। यहाँ सप्तम प्रतिमा के प्रसंग में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की चर्चा ही की गई है।

8. आरम्भत्यागप्रतिमा

पूर्व की सात प्रतिमाओं का पालन करने वाला श्रावक जब आजीविका के साधन कृषि व्यापार एवं नौकरी आदि पापारम्भ का त्याग कर देता है; वह आरम्भत्यागप्रतिमा का धारक कहलाता है। जहाँ

ब्रह्मचर्यप्रतिमा में कौटुम्बिक जीवन को मर्यादित कर दिया जाता है तो इस प्रतिमा में व्यापारादि को भी सुयोग्य सन्तान आदि को सौंप कर उससे विरत हुआ जाता है। आरम्भ आदि के त्याग का हेतु उनमें होने वाला प्राणघात है।

पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में लिखा है –

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारम्भ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजय रणथम्भ।।68।।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि आरम्भत्यागप्रतिमाधारी श्रावक अभिषेक दान पूजन आदि धर्मकार्यों के लिए आरम्भ कर सकता है।

अपने कपड़ों को धोना, जल आदि भरना आदि कार्य स्वयं अपने हाथ से कर सकता है अथवा दूसरे साधर्मियों से भी करा सकता है।

यद्यपि यह श्रावक, स्वयं अपने लिए भोजन बना कर खा सकता है और पात्रदान आदि भी कर सकता है; तथापि गृहत्यागी श्रावक तो अपने लिए भी भोजनादि नहीं बनावे। गृहवासी भी अपने लिए यथासम्भव अपने लिए न स्वयं भोजन बनावे और न ही अपनी इच्छानुसार भोजन बनाने को कहे। उसे अपने घर पर या दूसरे घर पर, निमन्त्रण पर या बिना निमन्त्रण के ही भोजन कर लेना चाहिए।

प्रश्न – गृहविरत आरम्भत्यागी को कदाचित् कोई भोजन के लिए न बुलावे तो स्वयं बना कर खावे या नहीं ?

समाधान – संयमप्रकाश में ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देते हुए समझाया है – ''आरम्भत्यागी को पहले अपना द्रव्यक्षेत्रकालभाव देख लेना चाहिए कि इस रूप मेरी कषाय शान्त हुई या नहीं। प्रथम तो धर्मात्माओं को कभी ऐसा अवसर आता ही नहीं कि उसे धर्म के साधन न मिलें या धर्मसाधन करने वाले न हों; बल्कि वह ऐसे क्षेत्र में जावे ही नहीं, जहाँ संयम का घात होता हो; कभी अकेला भी न रहे, हमेशा अपने समान त्यागी व्रतियों के साथ ही रहे, जिससे सर्वदा धर्मसाधन बनता रहे। अकेले भ्रमण करने से व्रती भी स्वच्छन्द प्रमादी और दूषणयुक्त हो जाता है; अतः इस स्वच्छन्दता से सदा बचे। प्रतिमा धारण करने के पहले उस व्रत का स्वरूप अच्छी तरह समझ लेवे तथा द्रव्यक्षेत्रकालभाव देखे, तब यदि उचित होवे और पल सके – ऐसा जाने तो ही व्रतरूप प्रतिज्ञा ग्रहण करे, अन्यथा नहीं। केवल देखादेखी से तो व्रत भ्रष्ट और पापी होना पड़ता है, जिससे बड़ा अकल्याण होता है क्योंकि स्वरूप समझे बिना पालन कैसा ?

आरम्भ शब्द का तात्पर्य

1. प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना, **आरम्भ** है। **सवार्थसिद्धि**, 6/15
2. हिंसा करना है स्वभाव जिनका – ऐसे कार्यों को **आरम्भ** कहते हैं। **राजवार्तिक** 6/15
3. प्राणियों के प्राणों का वियोग करना, **आरम्भ** कहलाता है। **धवला**, 13/46

आरम्भत्यागप्रतिमा में आरम्भत्याग का स्तर

आरम्भत्यागप्रतिमा में आरम्भ का त्याग कृत से होता है या कारित से या अनुमोदना से अथवा तीनों से – इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों के अलग अलग मन्तव्य प्राप्त होते हैं –

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रतिमाधारी को आरम्भ का त्याग कृत.कारित.अनुमोदना – इन तीनों से माना है।
2. श्रावकधर्मसंग्रह में इस प्रतिमाधारी को आरम्भ का त्याग मात्र कृतकारित से माना है, अनुमोदना से नहीं क्योंकि अनुमोदना का त्याग दसवीं प्रतिमा में होता है।

3. श्रावकधर्मप्रदीप में इस प्रतिमाधारी को आरम्भ का त्याग मात्र कृत से माना है क्योंकि परिग्रहत्याग एवं अनुमतित्याग नहीं होने से इस प्रतिमाधारी को कारित और अनुमोदना सम्बन्धी दोष आते हैं।

उक्त तीनों बातों का अपना अपना महत्त्व है। इन तीनों विचारों में स्थूल दृष्टि से अन्तर भासित होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से उनमें सामंजस्य भी देखा जा सकता है क्योंकि जिस स्तर का आरम्भत्याग इस प्रतिमा में है, उस स्तर का त्याग तो कृत.कारित.अनुमोदना तीनों से ही होता है। लेकिन यदि दूसरी दृष्टि से विचार करें तो सर्वथा आरम्भ का त्याग, इस प्रतिमा में सम्भव ही नहीं है क्योंकि अभी परिग्रह का त्याग नहीं हुआ है, अनुमति का त्याग भी नहीं हुआ है। अतएव दोनों दृष्टियों को ध्यान में रख कर ऐसा कहा जा सकता है कि परिग्रहत्याग होने पर कारित का त्याग और अनुमतित्याग होने पर अनुमोदना का त्याग होता है। लेकिन तीसरी दृष्टि से यदि हम कहें कि परिग्रहत्याग से कारित के त्याग का क्या लेना.देना ? तो हम कह सकते हैं कि आरम्भत्याग के समय ही कृत.कारित का त्याग हो जाता है परन्तु अनुमोदना का त्याग तो अनुमतित्याग के समय ही होता है – ऐसा मानने में भी कोई दोष नहीं है।

आरम्भत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- स्थूल दृष्टि से आरम्भ का अर्थ दुकानदारी आदि आजीविका के लिए आरम्भी एवं उद्योगी हिंसा करना है, परन्तु यह अष्टमप्रतिमाधारी श्रावक आरम्भी और उद्योगी हिंसा से अतिभयभीत होकर आरम्भकर्म को विकलता उत्पन्न करने वाला जान कर आरम्भकर्म का त्याग करता है।
- यह श्रावक, सर्व प्रकार के व्यापार धन्धे नौकरी तथा गृहसम्बन्धी आरम्भ भी नहीं करता।
- कोई कहे कि शेयर बाजार, सराफा आदि दुकानों में तो आरम्भी हिंसा अधिक नहीं होती तो उसे कहते हैं कि वहाँ भी भावों के उतार चढ़ाव आदि के निमित्त से आत्मपरिणामों की विशेष हिंसा होती है, अतएव भले ही द्रव्यहिंसा की अधिकता न हो, परन्तु भावहिंसा की तीव्रता होने से उनका भी निषेध किया गया है। जिनागम में द्रव्यहिंसा की तुलना में भावहिंसा को अधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि फल तो भावों का ही लगता है।
- इस प्रतिमा के योग्य भावों की विशुद्धि करने का प्रारम्भ दूसरी व्रतप्रतिमा में दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत, परिग्रहपरिमाणव्रत आदि के माध्यम से हो चुका है, उन्हीं भावों की विशुद्धि की ओर ले जाने वाली यह प्रतिमा है।
- इस प्रतिमाधारी के भी अभी यथापरिमाण परिग्रह रखना, व्यापारादि कार्यों में अनुमति प्रदान करना, उद्दिष्ट भोजन आदि करना, इत्यादि दोषों का त्याग नहीं हुआ है, अतः तत्सम्बन्धी दोष यहाँ भी लगते ही हैं तथा उनकी अविरतिजन्य पापबन्ध भी लगता ही है।
- इस प्रतिमा में यतनाचारपूर्वक पूजनादि षट् आवश्यक सम्बन्धी अल्पारम्भ का त्याग नहीं है क्योंकि इन कार्यों में 'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ' की उक्ति चरितार्थ होती है अर्थात् इन धर्मकार्यों को करने से थोड़ा आरम्भ होता है और बहुत पुण्य की राशि का संचय होता है। यहाँ भी ध्यान रखने वाली बात यह है कि यह श्रावक धर्मकार्यों में भी अधिक आरम्भ नहीं करे। जैसे, धूप खेना, दीपक जलाना आदि।
- इस प्रतिमा में भोजनादि की व्यवस्था बहुत कुछ अन्य श्रावकों पर आश्रित हो जाती है।
- इस प्रतिमा के धारण करने से पूर्व जितनी भी धन.सम्पत्ति अपने पास होवे, उसका अपनी इच्छानुसार योग्य विभाग कर देवे। जितना अपने पास रखना हो, उसे अपने पास रख कर बाकी सम्पत्ति को परिवारीजनों, कुटुम्बीजनों, साधर्मी, हितचिन्तकों आदि में विभाग करके बाँट देवे, जिससे उन्हें सन्तोष रहे। लेकिन आरम्भ करके नया धन नहीं कमावे।
- यह प्रतिमाधारी अपने पास के धन का उपयोग दानादि अथवा तीर्थयात्रा आदि अथवा दीन दुःखी भूखों के उपकार अथवा अपने व्यक्तिगत औषधि भोजन वस्त्राादि के उपयोग में नियमानुसार खर्च कर सकता है; परन्तु अन्य प्रीतिभोज आदि व्यावहारिक कार्यों में खर्च न करे।

- जो मर्यादारूप धन अपने पास रख लिया था; उसे कोई चोर, हिस्सेदार, दुष्ट, राजादि छीन ले तो क्लेश नहीं करता है; पुनः कमाने का प्रयत्न नहीं करता है। त्याग करके ऊपर ही चढ़ता है। वह विचारता है कि 'अहो! मैंने रागी मोही होकर इतना परिग्रह रख लिया था, जो चला गया। कर्मोदय ने मेरा बड़ा उपकार किया। ममता, आरम्भ, रक्षा, भय आदि समस्त क्लेश छूट गया, इतना बड़ा दुर्ध्यान था, वह सहज ही छूट गया' – ऐसे भाव करके वह अपने परिणामों को सम्हालता है।
- संयमप्रकाश के अनुसार – इस प्रतिमाधारी को सामान्यतः सवारी मात्र का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि सवारी चेतन हो या अचेतन, उनमें जीवहिंसा हुए बिना नहीं रहती; इसीलिए आरम्भत्यागप्रतिमाधारी को सवारी का त्याग अवश्य कर देना चाहिए। सवारी में बैठने से स्वाधीनता एवं विरक्ति दोनों का नाश हो जाता है।
- जबकि श्रावकधर्मप्रदीप आदि अन्य श्रावकाचारों के अनुसार – इस प्रतिमा में सवारी के सर्वथा त्याग की बात तो नहीं है, परन्तु वहाँ भी इसके विवेकपूर्वक कम उपयोग करने पर ही जोर दिया गया है।
- यह प्रतिमाधारी वस्त्रों में भी अल्प सादे व स्वच्छ वस्त्रों का ही उपयोग करता है या तो स्वयं प्रासुक जल से अपने वस्त्र निचोड़ लेता है। अथवा दूसरा व्यक्ति भी उतने ही यतनाचारपूर्वक उनके वस्त्रों को धोना चाहे तो धो सकता है। इसी प्रकार स्वयं पूजन प्रक्षाल आदि के लिए अल्प जल से यत्नपूर्वक स्नान करे।
- यह प्रतिमाधारी भी या तो गृहत्यागी हो जाता है अथवा यदि घर में रहता भी है तो परघर की तरह रहता है। वहाँ भी अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु नहीं रहता, बल्कि परिग्रह और कुटुम्बीजनों के प्रति रागांश के कारण रहता है। अतः गृहवासी रहते हुए उसका आरम्भत्याग नव कोटि से होने की तुलना में मात्र छह कोटि से ही पल पाता है।
- यह प्रतिमाधारी, गृहवासी होते हुए अपने घर में भी एकान्त स्थल चुन कर, स्वाध्याय और सामायिक मे अपना समय व्यतीत करता है। अथवा उक्त उद्देश्यों को ही सामने रख कर गृहत्यागी होकर चैत्यालय या धर्मशाला आदि निरुपद्रव स्थान का चयन करता है।
- यह प्रतिमाधारी शरीर और भोगेच्छा से ममत्व का त्याग करता है, जो कि मुनिपद के लिए अत्यावश्यक है क्योंकि सप्तम प्रतिमा से ही मुनिपद के योग्य क्रियाओं का एवं व्रतों का अभ्यास प्रारम्भ हो गया है और क्रमशः वृद्धि करता हुआ अष्टम प्रतिमा को इस स्वरूप में धारण किया है।

9. परिग्रहत्यागप्रतिमा

''जो दश प्रकार के बाह्य परिग्रह में 'ये हमारे कुछ भी नहीं हैं' – ऐसे ममता को छोड़ कर, समतापूर्वक निर्ममत्व में लीन रहता हुआ सन्तोष वृत्ति धारण करके दीनता रहित होता है; समस्त परद्रव्यों एवं उनकी पर्यायों में आत्मबुद्धिरहित होकर, अपने अविनाशी ज्ञायकभाव में स्थिर होता है तथा जो कर्मोदय से प्राप्त बुद्धिपूर्वक भोजन, स्थान, वस्त्रादि परिचित स्थूल परिग्रह से विरत होता है; वह **नवम परिग्रहत्याग. प्रतिमाधारी श्रावक** है।''

रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक 145 के आधार पर

अथवा ''जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रख कर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं करता, वह **नौवीं प्रतिमाधारी श्रावक** कहलाता है।''

वसुनन्दि श्रावकाचार एवं वृहद्द्रव्यसंग्रह के आधार पर

इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक सोना, चाँदी, आदि समस्त द्रव्य मात्र का त्याग कर देता है तथा केवल अपने शरीर के लिए वस्त्र घर आदि आवश्यक पदार्थों को ही स्वीकार करता है अथवा धर्मसाधन के लिए जिन जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है, उनका ग्रहण करता है, शेष सबका त्याग कर देता है।

ऐसा ही कथन नाटक समयसार में भी आता है –

जो दसधा परिग्रह कौ त्यागी, सुख संतोष सहित वैरागी।

समरस संचित किंचित ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही।।69।।

कुरलकाव्य में लिखा है कि ''मनुष्य, जिस वस्तु को छोड़ देता है तो उससे होने वाले दुःख से वह अपने को मुक्त कर लेता है।'' **कुरलकाव्य,** एलाचार्य तिरुवल्लुवर, परिच्छेद 35 : त्याग, पृष्ठ 179,

परिग्रहत्याग की आवश्यकता एवं प्रेरणा

जिनमत में परिग्रह को सबसे बड़ा पाप माना गया है; अतः उसकी अत्यन्त कठोर शब्दों में निन्दा भी की गई है। यद्यपि मुख्यता से यह बात द्रव्यलिंगी मुनि के प्रसंग में कही गई है, तथापि यहाँ परिग्रहत्याग का प्रकरण होने से कुछ शास्त्रों के उद्धरण दिये जाते हैं –

1. परिग्रह से काम, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप, पाप से नरकगति होती है; उस नरकगति में वचनों से अगोचर महादुःख होता है; इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है। ज्ञानार्णव 16/831
2. सब दोष परिग्रहमूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है', इस प्रकार का संकल्प होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं। फिर उसके लिए हिंसा अवश्यंभावी है, फिर उसी के लिए असत्य बोलता है, फिर चोरी करता है, मैथुनकर्म में रत होता है; अरे! नरकादि में जितने दुःख हैं, वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

   सर्वार्थसिद्धि 7/17
3. हिंसा के ही पर्यायरूप होने के कारण अन्तरंग परिग्रह में हिंसा स्वयंसिद्ध है तथा बहिरंग परिग्रहों में ही ममत्व परिणाम होने के कारण हिंसा ही है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 119
4. अणुमात्र परिग्रह के रखने से भी मोहकर्म की ग्रन्थी/गाँठ दृढ़ होती है और इससे तृष्णा की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसके शान्ति के लिए समस्त लोक की सम्पत्ति भी कम पड़ती है। ज्ञानार्णव 16/839
5. हे भाई! तू खराब प्रकार से भोगने वाला है; जो (परिग्रह) तेरा नहीं है, उसे तू भोगता है – यह महा खेद की बात है। आत्मख्याति, समयसार
6. चक्रवर्ती का सुख रागभाव को बढ़ाने वाला तथा तृष्णा को बढ़ाने वाला है; इसलिए परिग्रह का त्याग करने पर रागद्वेष रहित मुनि को जो सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग की बराबरी भी चक्रवर्ती का सुख नहीं कर सकता है। भगवती आराधना
7. जिस किसी ने जिनवर का वेश धारण करके भस्म से शिर के केश लोंच लिये हैं, लेकिन सब परिग्रह नहीं छोड़े, उसने अपनी आत्मा को ठग लिया। परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, गाथा 90
8. परम मुनि, उत्कृष्ट आत्मद्रव्य को जानते हुए भी परद्रव्य को छोड़ देते हैं क्योंकि परद्रव्य के संसर्ग से, वे ध्यान करने योग्य जो परमपद, उससे चलायमान हो जाते हैं। परमात्मप्रकाश, अध्याय 2, गाथा 108
9. विद्वानों को चाहिए कि परपदार्थों के त्याग की इच्छा से आत्मा के स्वरूप की भावना करें क्योंकि जो पुरुष, आत्मा के स्वरूप की परवाह नहीं करते, वे परद्रव्य का त्याग नहीं कर सकते।[142] योगसार अमितगति
10. जैसे, तालाब में पत्थर डालने पर उसके तल भाग में दबा हुआ कीचड़, क्षुब्ध होकर ऊपर आता है; वैसे ही परिग्रह, जीव की प्रशान्त कषायों को भी प्रगट करता है। भगवती आराधना
11. उपधि अर्थात् परिग्रह से निश्चय ही बन्ध होता है; इसलिए श्रमणों ने सर्व परिग्रह का त्याग किया है।

    प्रवचनसार गाथा 219
12. विद्यमान या अविद्यमान बहिरंग परिग्रह की अभिलाषा रहने पर निर्मल शुद्धात्मानुभूतिरूप चित्त की शुद्धि नहीं की जा सकती है। प्रवचनसार गाथा 220

13. कदाचित् सूर्य अपना स्थान छोड़ दे और सुमेरु पर्वत स्थिरता छोड़ दे – यह तो सम्भव है, परन्तु परिग्रह सहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है। ज्ञानार्णव 16/845

14. जो पुरुष, बाह्य परिग्रह को छोड़ने में भी असमर्थ है, वह नपुंसक आगे की कर्मों की सेना को कैसे हरेगा? ज्ञानार्णव 16/846

15. निषिद्ध उपधि के सद्भाव में उस भिक्षु के मूर्च्छा, आरम्भ या असंयम न हो – यह कैसे हो सकता है? तथा जो परद्रव्य मे रत हो, वह आत्मा को कैसे साध सकता है? प्रवचनसार गाथा 221

परिग्रहत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- परिग्रहत्यागप्रतिमा की भावना करने वाला श्रावक, अपने द्वारा ग्रहण किये गये परिग्रह को मुर्दे के शृंगार की तरह व्यर्थ समझता है; अतः उसके त्याग की ओर प्रवृत्त होता है। वह यह विचार करता है कि मैं तो ब्रह्मचारी हूँ, मुझे दो चार वस्त्र तथा शौचादि और भोजनादि के लिए दो चार बर्तनों के सिवाय अन्य परिग्रह का कोई उपयोग नहीं है, अतः ऐसा विचार करके वह अपने पुत्रादि, कुटुम्बियों तथा साधर्मियों को अपने समक्ष बुला कर, उन्हें विधिपूर्वक गृह.भार सौंप देते हैं और स्वयं उस परिग्रह से मुक्त हो जाता है। यह परिग्रहत्यागप्रतिमा को धारण करने की विधि है।
- यह प्रतिमाधारी व्यापार आदि के लेनदेन, गृहकार्य, पुत्रादि के विवाह आदि तथा अन्य सांसारिक कार्यों मे भाग नहीं लेता और न ही उसके लिए किसी प्रकार की कोई प्रेरणा ही देता है।
- घर गृहस्थी के कार्यों में यदि कोई परिवारीजन उनकी सम्मति माँगता है तो उन्हें अपना अभिप्राय, प्रयोजन, उद्देश्य आदि बता देता है क्योंकि इस प्रतिमाधारी ने अभी अनुमतित्याग नामक दसवीं प्रतिमा को धारण नहीं किया है।
- रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस प्रतिमा का नाम परिचितपरिग्रहत्यागप्रतिमा कहा है; उसका तात्पर्य यह है कि इस प्रतिमा में यद्यपि उस श्रावक ने अपने लिए आवश्यक कुछ वस्त्रादि एवं कुछ बर्तनादि का त्याग नहीं किया है, तथापि उनसे भी ममत्वभाव का त्याग तो किया ही है। उसने अन्य समस्त परिचित परिग्रहों का, जिनमें खेत, जमीन, मकान, बाग, कुआँ, बावड़ी, सोना, चाँदी, माणिक, मोती, रुपया पैसा, चेक, हुण्डी, कम्पनियों के शेयर, कीमती वस्त्र आदि अन्य अनेक वस्तुएँ, अस्त्र.शस्त्र, गाड़ी, मोटर, स्कूटर, सायकिल, ताँगा, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी, पक्षी, नौकर, धातुओं के बर्तन, आभूषण आदि वस्तुओं का सर्वथा त्याग करता है।
- इस प्रतिमा से इस बात की भी शिक्षा मिलती है कि जो श्रावक, मुनिपद की भावना के साथ आचरण कर रहा है, वह यद्यपि द्रव्यलिंग.भावलिंगरूप मुनिपद का आचरण तो नहीं कर रहा है, फिर भी वह मात्र बाह्य व्रतादि ही ग्रहण नहीं करता, बल्कि अन्तरंग ममत्व परिणामों का भी यथाशक्ति त्याग करता है अर्थात् दर्शनमोहजनित मिथ्यात्व का तो सर्वथा त्याग करता ही है, चारित्रमोहजनित अविरति, प्रमाद और कषायभावों का यथाशक्ति त्याग करता है।
- परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी, केवल शीतउष्ण की वेदना दूर करने के लिए तथा शरीर आच्छादन करने के लिए सादे वस्त्र रखे, जिनमें सामान्यतः लंगोटी, धोती तथा ओढ़ने के लिए एक दो वस्त्र होते हैं।
- बिछाने के लिए बिस्तर न रखे, चटाई आदि का ही प्रयोग करे।
- अल्प मूल्य का ताँबे या पीतल आदि का एक जल.पात्र तथा एक या दो भोजन.पात्र रखे।
- भोजन करने हेतु अपने या अन्य के घर में निमन्त्रण से जावे। ध्यान रहे परिग्रहत्यागी, किसी को भोजन बनाने के लिए प्रेरित नहीं करे।
- जीवों की रक्षा के लिए एक नरम पूँजणी या एक छोटा सफेद रुमाल रखे।

- अपने स्त्री.पुत्रादि, औषधि.आहार.पानादि देवें, वस्त्रादि धोवें तथा शारीरिक सेवा सुश्रुषा आदि करें तो ठीक; लेकिन यदि वे न करें तो स्वयं उन पर दबाव न डालें और न उन पर अप्रसन्न हों। ध्यान रहे कि अव्रतियों से सेवा आदि न करावें।
- यदि इस प्रतिमा का धारक गृह.त्यागी हो तो कुटुम्ब.सम्बन्धी सुआ सूतक आदि न माने; परन्तु यदि गृहवासी हो तो गृहस्थी में रहने के कारण सुआ सूतक आदि मानना चाहिए।
- रागादि युक्त मकान आदि में न रहे। नौकर चाकर आदि का प्रयोग न करे, स्वतन्त्र होकर स्वयं अपना कार्य करे।
- भोजन.पात्र को भोजनोपरान्त तुरन्त माँज कर अपने साथ ले आवें। उन्हें गृहस्थ के घर पर न छोड़ें, जिससे देरी से मँजने में होने वाले असंयम की सम्भावना न रहे।
- यदि कहीं धार्मिक कार्यक्रम के निमित्त सामूहिक रूप से भी मर्यादा का ध्यान रखते हुए शुद्धतापूर्वक भोजन बनता है तो यह श्रावक वहाँ भी निमन्त्रण पर भोजन ग्रहण कर सकता है।
- इस प्रतिमा से ही बिना दिया हुआ जल या मिट्टी भी ग्रहण न करें।
- परिग्रहत्यागी को द्रव्यपूजन करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि द्रव्यपूजन में दान की मुख्यता होती है, परन्तु इस प्रतिमा से परिग्रह का सर्वथा ही त्याग हो जाता है, अतः वह बिना परिग्रह के द्रव्यपूजन कैसे करेगा ? केवल भावपूजन करके ही सन्तोष धारण करे।
- यह निष्परिग्रही श्रावक, अल्प प्रासुक जल से शुद्धि मात्र के लिए स्नान करता है।
- यह श्रावक, नित्य देववन्दना, स्तुति, सामायिक, जप, तप, स्वाध्याय आदि के द्वारा ही अपने जीवन के अमूल्य क्षणों का उपयोग करता है।
- इस प्रतिमा में श्रावक समस्त परिग्रह का त्याग करके अपने आप को धन्य भाग्य अनुभव करता है तथा बाह्य परिग्रह का त्याग करके मन में बहुत आनन्दित होता है क्योंकि उसने अन्तरंग मूर्च्छा घटाने के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया है, दिखावे के लिए या मान प्रतिष्ठा के लिए नहीं; अतः मूर्च्छा घटने से उसे निराकुलताजनित आनन्द ही होता है। यदि किसी के पास बाह्य परिग्रह तो कुछ भी न हो, परन्तु अन्तरंग लालसा विशेष हो तो वह पूरा परिग्रहधारी है।
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है –

जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतर बाहिरं च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणो, णिग्गंथो सो हवे णाणी।।386।।

अर्थात् जो ज्ञानी श्रावक, अभ्यन्तर और बाह्य, दोनों प्रकार के परिग्रह को पाप का कारण मानता हुआ उन्हें आनन्द सहित छोड़ता है, वह परिग्रह का त्यागी श्रावक होता है।

परिग्रहत्याग में अन्तरंग परिग्रह के त्याग की मुख्यता

जैनदर्शन में अन्तरंग परिग्रहत्याग की मुख्यता का कारण यह है कि वह मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण है, परन्तु जब जब अन्तरंग परिग्रह का त्याग होता है, तब तब वह बाह्य परिग्रह के त्यागपूर्वक ही होता है; अतः आगम में अन्तरंग परिग्रह के साथ बाह्य परिग्रह के त्याग को भी यथायोग्य स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न आगम वचन ध्यान देने योग्य हैं –

- जैसे, ऊपर का छिलका निकाले बिना चावल का अन्तरंग मल नष्ट नहीं होता; वैसे, बाह्य परिग्रहरूप मल निकले बिना अन्तरंग मोहरूपी मल नष्ट नहीं हो सकता।

भगवती आराधना, गाथा 1114, पृष्ठ 571, **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका टीका, 220 एवं **अनगार धर्मामृत** 4/105

- बाह्य परिग्रह का त्याग, अन्तरंग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है। **भावपाहुड़** गाथा 3

- अध्यवसान का प्रतिषेध करने के लिए ही बाह्य वस्तु का निषेध किया गया है। **समयसार** गाथा 286
- समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा उसके निमित्त से होने वाले भावों का प्रत्याख्यान करता है। समयसार गाथा 286 की टीका
- यद्यपि जीवों को जो अध्यवसान होता है, वह वस्तु का अवलम्बन करके ही होता है; तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यवसान से ही बन्ध होता है। **समयसार** 265 **एवं कषायपाहुड़** 1/गाथा 51/105
- अन्तरंग शुद्धि से बाह्य परिग्रह का त्याग नियम से होता है। **भगवती आराधना,** गाथा 1910–1911
- राग लोभ और मोह – जब मन में उत्पन्न होते हैं, तब इस आत्मा में बाह्य परिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि होती है। **भगवती आराधना** गाथा 1115, पृष्ठ 571 एवं 1912
- जो मनुष्य, केवल बाह्य द्रव्यरूप से विषयों से निवृत्त या विरक्त है, उसके पापों की निवृत्ति नहीं, किन्तु जो भावरूप से निवृत्त है, उन्हीं के वास्तविकरूप से कर्मों का संवर होता है। **योगसार अमितगति**. 5/57

10. अन्तरंग मूर्च्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार बाह्य परिग्रह होता है। **प्रवचनसार,** तात्पर्यवृत्ति, गाथा 218

अनुमतित्यागप्रतिमा

जो आरम्भ.कार्यों, परिग्रह.कार्यों, लौकिक.कार्यों आदि; जैसे, विवाह आदि करना, घर आदि बनवाना, व्यापार नौकरी आदि कार्यों के सम्बन्ध में कुटुम्ब के लोग पूछें तो भी अनुमति नहीं देता है तथा तुमने अच्छा किया या बुरा किया – इस प्रकार मन.वचन.काय से प्रगट नहीं करता तथा जो रागादि रहित समबुद्धि वाला है, वह श्रावक 'अनुमतित्यागप्रतिमाधारी' कहलाता है।

पण्डित बनारसीदासजी, नाटक समयसार में लिखते हैं –

पर कौं पापारम्भ कौ, जो न देइ उपदेश।
सो दसमी प्रतिमा सहित, श्रावक विगत कलेश।।70।।

अनुमति शब्द का तात्पर्य

स्वयं तो कोई कार्य नहीं करना, परन्तु अन्य को करने की सलाह देना, अनुमति है। अथवा अन्य के द्वारा स्वयं कोई कार्य करने पर प्रसन्न होना, अनुमति है। **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 1, पृष्ठ 95

मूलाचार के अनुसार अनुमति.दोष के भेद

1. प्रतिसेवा अनुमति दोष – दाता, जो पात्र के उद्देश्य से आहार, उपकरण आदि बनाता है और पात्र, यदि उस आहारादि को प्रासुक समझ कर, उसे ग्रहण करता है तो उस पात्र को प्रतिसेवा नामक अनुमति दोष लगता है।

2. प्रतिश्रवण अनुमति दोष – यदि शुद्ध प्रासुक आहार, उपकरण आदि वस्तु को पात्र के द्वारा ग्रहण करने के पहले ही दाता उसे बता देता है कि मैंने आपके निमित्त यह प्रासुक आहार, उपकरण आदि बनाए हैं, इनको आप ग्रहण कीजिए – ऐसा सुन कर भी यदि पात्र उन्हें ग्रहण कर लेता है तथा यदि दाता, पात्र को बिना बताए आहार या उपकरण आदि उन्हें प्रदान कर देता है, परन्तु पश्चात् वह उन्हें बताता है कि यह आहारादि मैंने आपके लिए बनाए थे, आपने इन्हें ग्रहण करके मुझ पर बड़ा उपकार किया है – ऐसा सुन कर भी यदि मुनि यदि मौन से या सन्तोषपूर्वक रह जाते हैं तो उनके उक्त दोनों स्थितियों में प्रतिश्रवण नामक अनुमति दोष लगता है।

3. संवास अनुमति दोष – सावद्य से संक्लेशित ममत्वभाव को संवास कहते हैं। जैसे, जो मुनि, गृहस्थों के साथ संवास करता है और आहार, उपकरण आदि के प्रति संक्लिष्ट होता हुआ 'यह मेरा है' – ऐसा ममत्वभाव रखता है, उसके संवास नामक अनुमति दोष लगता है।

मूलाचार में कहा है कि जो साधु, उक्त अनुमति दोषों को करते हुए यथोक्त चारित्र का आचरण नहीं करते हैं और अपने बलवीर्य को छिपाते हैं, उन्होंने वीर्याचार का अनुष्ठान नहीं किया है – ऐसा समझना चाहिए।

अनुमतित्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- नैष्ठिक श्रावक के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेदों में से यह अनुमतित्यागप्रतिमाधारी एवं उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक, उत्कृष्ट नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं।
- उत्कृष्ट श्रावक को साधक श्रावक भी कहा जाता है; जिनमें उत्तम साधक – ऐलक, मध्यम साधक – क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका तथा जघन्य साधक – दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक एवं श्राविकाएँ कहलाती हैं।
- परिग्रहत्याग एवं आरम्भत्याग प्रतिमाओं में निषिद्ध कार्यों एवं इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कार्यों का यह श्रावक, अनुमोदना भी नहीं करता।
- यह श्रावक, उदासीनभाव से घर में अथवा किसी आश्रम, धर्मशाला आदि में अथवा चैत्यालय आदि में भी रह सकता है।
- यह श्रावक, पहले से भोजन के लिए आमन्त्रण स्वीकार नहीं करता, लेकिन हाँ, भोजन के यदि समय कोई सज्जन बुलाने आवे तो उसके साथ भोजन करने जाता है, अन्यथा ऐसे ही भवितव्य का विचार करके सन्तोषवृत्ति से रहता है। वह भोजन हेतु अपने या अन्य के घर में जा सकता है।
- यह श्रावक, अपने पास प्रतिलेखन कार्य हेतु नरम वस्त्र आदि की एक प्रतिलेखनी रखता है क्योंकि उसे अभी इस अवस्था में मयूरपीछी रखने की आज्ञा, जिनागम में नहीं है।
- यह श्रावक, अपने साथ 2–3 वस्त्र, भोजन एवं शौच हेतु 1–2 बर्तन तथा शयन हेतु चटाई आदि के अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह नहीं रखता।
- यह श्रावक, पाप के मूल गृहस्थी के कार्यों में 'जो भवितव्य होगा, वही होगा' – ऐसे विचारसहित भावना रखता हुआ, उन कार्यों की अनुमोदना नहीं करता – ऐसा कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 388

- इस श्रावक को यद्यपि 'भिक्षु' संज्ञा नहीं है, तथापि इसकी रुचि, भिक्षु के समान ही है क्योंकि इसके आगे का पद, भिक्षु का ही है।
- यह श्रावक, गृह, कुटुम्ब, धनादि से विरक्त होकर, निरन्तर देववन्दना, स्वाध्याय, सामायिक और जप आदि कार्यों में अपना समय लगाता है।
- इस श्रावक का चित्रण करते हुए सागार धर्मामृत में लिखा है – यह मुमुक्षु, शरीर की स्थिति के लिए भोजन की और धर्म की सिद्धि के लिए शरीर की अपेक्षा करते हैं तथा विचार करते हैं कि अधःकर्म से युक्त अपने उद्देश्य से किये हुए आहार को खानेवाले मुझे वह धर्म की सिद्धि कैसे हो सकती है? अरे! मैं भिक्षावृत्ति से प्राप्त अमृत को कब खाऊँगा?
- यह प्रतिमाधारी श्रावक, 'मेरे लिए अमुक वस्तु बनाओ – ऐसा कभी नहीं कहता। जो कुछ गृहस्थ के यहाँ बना हो, उसी का भोजन कर आवे। अपने अन्तरायकर्म के क्षयोपशम के अनुसार जो कुछ खट्टा. मीठा, लोना.अलोना, चिकना.रूखा आदि जैसा मिल जावे, वैसे भोजन से अपनी क्षुधारूपी अग्नि प्रशान्त करे, पर यह ध्यान रखे कि भोजन, सिद्धान्तानुसार प्रासुक एवं शुद्ध हो।

- यह श्रावक, किसी के अच्छे या बुरे लौकिक कार्य को अपने मन से चिन्तवन नहीं करे तथा सदैव स्वाध्याय व धर्मचर्चा में लगा रहे, अन्य विकथाओं को कभी न करे। अन्य लौकिक पापवर्द्धक उपदेश आदि तो भूल कर भी नहीं देवे।
- यह श्रावक, अपनी विशुद्धि के बढ़ने पर ज्ञानाचार आदि पंचाचार के पालने में तत्पर होकर, गृहस्थावस्था से विरक्त होकर घर से बाहर निकलने की इच्छा से गुरुजन, माता.पिता, स्त्री.पुत्र, बन्धु. बान्धव आदि से यथायोग्य आज्ञा लेवे।

11. उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए लिखा है –

जो णव कोडिविसुद्धं, भिक्खायरणेण भुजदे भोज्जं।
जायणरहियं जोग्गं, उद्दिट्ठाहारविरदो सो।। 390।।

अर्थात् जो श्रावक, नव कोटि विशुद्ध भिक्षाचरणपूर्वक याचनारहित योग्य आहार को ग्रहण करता है, वह उद्दिष्ट आहार का त्यागी है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा–टीका में पण्डित सदासुखदासजी ने कहा है कि जो समस्त गृह–कुटुम्ब से विरक्त होकर, एक कोपीन अर्थात् लंगोटी मात्र या कोपीन तथा खण्ड वस्त्र, जिससे पूरा शरीर नहीं ढकता, सिर ढॉके तो पैर नहीं ढके, केवल कुछ डॉस, मच्छर, शीत, आताप, वर्षा, पवन के परीषह में सहारा रहे – ऐसा खण्ड वस्त्र धारण करता है तथा भिक्षा भोजन अयाचीक वृत्तिपूर्वक मौन सहित ग्रहण करता है। **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका,** श्लोक 148, पृष्ट 474

यह श्रावक, मुनियों के समान नवकोटिपूर्वक उद्दिष्ट आहार का त्यागी होता है। उद्दिष्ट अर्थात् व्यक्तिगतरूप से जिसे आहार कराना हो, उसके उद्देष्य से भोजन तैयार करना, जैसे, 'उन मुनिराज को यह भोजन पसन्द है, अतः मैं ऐसा भोजन बनाता/बनाती हूँ।' अथवा उसके द्वारा कहा हुआ भोजन तैयार करना कि 'आप मेरे लिए ऐसा भोजन बनाओ' अथवा पात्र को बता कर भोजन तैयार करना कि 'मैंने आपके लिए भोजन तैयार किया है', आदि।

यद्यपि अनुमतित्यागप्रतिमाधारी भी उत्कृष्टश्रावक है, तथापि उत्कृष्ट श्रावकों में अनुमतित्यागप्रतिमाधारी श्रावक, जघन्य.उत्कृष्टश्रावक है; क्षुल्लक, मध्यम.उत्कृष्टश्रावक है और ऐलक, उत्कृष्ट.उत्कृष्टश्रावक है।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- यह श्रावक–भूमिका का सर्वोत्कृष्ट दर्जा है।
- जो घर छोड़ कर मठ या मण्डप में रहता है, भिक्षा द्वारा आहार लेता है, जो इसके निमित्त कोई आहार बनावे तेा उस आहार को नहीं लेता है, मॉग कर नहीं लेता है, अयोग्य मांसादिक तथा सचित्त आहार नहीं लेता है – ऐसा उद्दिष्टविरत श्रावक होता है।
- यह श्रावक, अपने लिए बनाया भोजन ग्रहण नहीं करता है; निमन्त्रण करने पर या समय पर बुलाने पर नहीं जाता है; यदि अपने लिए कुछ भी आरम्भ किया जान ले तो भोजन का त्याग कर देता है।
- वन में या ग्राम के बाहर वसतिका में रहता है; उपसर्ग परीषह आ जाए तो निर्भय होकर सहता है; कायरता या दीनता नहीं दिखाता है; ध्यान–स्वाध्याय में सदाकाल लीन रहता है।
- गृहस्थ के घर बिना बुलाये जाता है, गृहस्थ ने स्वयं के लिए जो भोजन बनाया हो, उसमें से भक्तिपूर्वक दिया हुआ, मौनपूर्वक ग्रहण करता है, उसमें समभाव रखता है।

- रसरहित हो या रससहित हो, कडुवा–खारा–मीठा, जो गृहस्थ दे, उसे ग्रहण करता है; अन्तराय हो जाए तो उपवास करता है।
- दिन में एक बार ही आहार–पानी आदि ग्रहण करता है। शाम को अथवा दूसरी बार कुछ भी ग्रहण नहीं करता।
- अनशनादि तप में शक्ति अनुसार उद्यमी रहता है। **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका,** श्लोक 148, पृष्ट 474
- यह प्रतिमाधारी श्रावक, घर छोड़ कर, मुनियों के पास मुनिसंघ में चला जाता है और उनके निकट ही व्रतों को धारण करता है, पश्चात् वन या ग्राम के बाहर वसतिका आदि में रह सकता है, उपसर्ग–परिषह आ जाने पर निर्भय होकर सहता है, कायरता या दीनता नहीं दिखाता। ध्यान, स्वाध्याय आदि में ही लीन रहता है।
- इस श्रावक की चर्या मुनिधर्म का पालन करने के लिए ही एक प्रकार का अभ्यास होता है।
- यह श्रावक, आहार की तरह अपने उद्देश्य से बनाई गई वसतिका, आसन, चटाई, उपधि, शय्या, वगैरह को भी वह स्वीकार नहीं करता। **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** स्वामिकार्तिकेय, 390–391

उद्दिष्ट शब्द से तात्पर्य

वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत–हिन्दी कोश एवं आदर्श हिन्दी शब्दकोश के अनुसार 'उद्दिष्ट' शब्द (उद्दिश्क्त) के निम्न अर्थ बताये गये हैं –

1. बताया हुआ, विशिष्ट, विशेषरूप से कहा गया।
2. समझाया हुआ या समझाया गया, दिखलाया हुआ या दिखलाया गया।
3. ढूँढा हुआ।
4. लक्ष्य किया हुआ।
5. इच्छित या चाहा हुआ।

अर्थात् अपने उद्देश्य से अथवा अपनी इच्छा से बतलाई हुई, विशेषरूप से कही गई, समझाई गई, दिखलाई गई, सिखाई गई वस्तु उद्दिष्ट कहलाती है।

उद्दिष्ट शब्द की व्याख्या करते हुए श्री जिनेन्द्र वर्णी लिखते हैं –

''उद्दिष्ट, वास्तव में एक सामान्यार्थवाची शब्द है; इसलिए इसका पृथक् से कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है। आहार के 46 दोषों में जो अधःकर्मादि 16 दोष हैं, वे सर्व मिल कर, एक उदि ्दष्ट शब्द के द्वारा कहे जाते हैं। इसलिए 'उद्दिष्ट' नामक किसी पृथक् दोष का ग्रहण नहीं किया गया है। उसमें भी दो विकल्प हैं – एक दातार की अपेक्षा उद्दिष्ट और दूसरा पात्र की अपेक्षा उद्दिष्ट। दातार यदि उपर्युक्त 16 दोषों से युक्त आहार बनाता है तो वह द्रव्य से उद्दिष्ट है और यदि पात्र अपने चित्त में, अपने लिए बने का अथवा भोजन के उत्पादन सम्बन्धी किसी प्रकार का विकल्प करता है तो वह भाव से उद्दिष्ट है – ऐसा आहार साधु (एवं उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक) को ग्रहण नहीं करना चाहिए।''

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृष्ठ 413

उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक के भेद

इस श्रावक के दो भेद हैं – क्षुल्लक और ऐलक। जो क्षुल्लक होता है, वह दो वस्त्रधारी होता है; जबकि ऐलक मात्र लंगोटधारी होता है, इसके बाद सीधे मुनिदशा ही होती है। हम ऐसा कह सकते हैं कि मुनिदशा का उत्कृष्ट अभ्यास इस भूमिका में होता है, अतः क्षुल्लक.ऐलक भी मुनियों के समान पीछी.कमण्डलु

का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रतिमा में प्रत्याख्यानावरण कषाय की विद्यमानता होती है, अतः वह किंचित् मोह जीवित होने के कारण, निर्ग्रन्थ मुनिमुद्रा धारण करने में असमर्थ होता है।

क्षुल्लक.ऐलक शब्दों के प्रयोग एवं क्षुल्लकों के दो भेदों सम्बन्धी इतिहास

''जिनसेनाचार्य के पूर्व तक शूद्र को दीक्षा देने या न देने का कोई प्रश्न न था। जिनसेनाचार्य के समक्ष जब यह प्रश्न आया तो उन्होंने अदीक्षार्ह और दीक्षार्ह कुलोत्पन्नों का विभाग किया।.....क्षुल्लक को जो पात्र रखने और अनेक घरों से भिक्षा लाकर खाने का विधान किया गया है, वह भी सम्भवतः उनके शूद्र होने के कारण ही किया गया प्रतीत होता है।

उक्त रूप वाले क्षुल्लकों को किस श्रावक प्रतिमा में स्थान दिया जाए – यह प्रश्न सर्वप्रथम वसुनन्दि के सामने आया प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम ग्यारहवीं प्रतिमा के भेद किये हैं। इनसे पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने इस प्रतिमा के दो भेद नही किये।.....14वीं–15वीं शताब्दी तक वे प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट के रूप में चलते रहे। 16वीं शताब्दी में पण्डित राजमल्लजी ने अपनी लाटी संहिता में सर्वप्रथम उनके लिए क्रमशः क्षुल्लक और ऐलक शब्द का प्रयोग किया।'' **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 1, पृष्ठ 413

क्षुल्लक पद की विशेषताएँ

- क्षुल्लक शब्द का अर्थ छोटा होता है अर्थात् क्षुल्लक को छोटा साधु कह सकते हैं अथवा हम इन्हें उत्कृष्ट श्रावकों में ऐलक से छोटे कह सकते हैं – ऐसा क्षुल्लक शब्द का भाव समझना चाहिए।
- यद्यपि क्षुल्लक को साधु एवं ऐलक से छोटा माना गया है, परन्तु वह सम्पूर्ण जगत् को समान दृष्टि से देखता है अर्थात् अपने बन्धु बान्धवों के प्रति ममत्व का त्याग करता है तथा अपने से प्रतिकूल आचरण करने वालों के प्रति भी द्वेष नहीं रखता।
- क्षुल्लक भी अपने केशों का लोच अपने हाथों से करने का अभ्यास करता है, उसमें भस्म की सहायता लेता है, परन्तु लोच करना, उसके लिए नियमरूप नहीं माना गया है, वह चाहे तो अपने मस्तक और दाढ़ी के बालों को कैंची या छुरे से दूर कर सकता है। परन्तु ऐलक को केशलोंच करने का नियम है।
- केशों को दूर करने का समय कम से कम दो माह, मध्यम रीति से तीन माह और अधिक से अधिक चार माह है; इससे अधिक काल तक केश रखने से जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।
- क्षुल्लक, केशों का तेल आदि से संस्कार नहीं करता, इसी तरह वह बालों की किसी तरह साज.सम्हाल भी नहीं करता।
- क्षुल्लक अपने पास लंगोट (कोपीन) तथा खण्ड वस्त्र रखता है। खण्ड वस्त्र से तात्पर्य यह है कि जो तीन–सवा तीन हाथ से अधिक लम्बा न हो और न ही अधिक चौड़ा हो। यह वस्त्र, सागार धर्मामृत एवं पद्मपुराण के अनुसार सफेद ही होता है, परन्तु कहीं कहीं पर पारम्परिकरूप में गेरुए वस्त्र भी पहनने का प्रचलन है।
- क्षुल्लक पद में पीछी.कमण्डलु रखने के सम्बन्ध में आचार्यों के अनेक मत प्राप्त होते हैं – जहाँ अनेक विद्वान् उसके समर्थन में है तो सागार धर्मामृत, लाटी संहिता, अनगार धर्मामृत में उसका निषेध किया गया है; परन्तु इस सम्बन्ध में सभी एक मत हैं कि उन्हें संयम.प्रतिलेखन और शौच के उपकरण के रूप में कोई न कोई वस्तु अवश्य रखना चाहिए। जैसे, वस्त्रनिर्मित पीछी, शौच हेतु कोई बर्तन आदि।
- प्रतिलेखन से तात्पर्य है कि जो जीव.जन्तु प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, उनकी रक्षापूर्वक ही उठना. बैठना, आसन ग्रहण करना, वस्तुओं को उठाना.रखना, मल.मूत्र त्याग करना, आदि अर्थात् यह व्रती उस मृदु उपकरण से स्थान को स्वच्छ कर निर्जन्तुक होने पर ही उपयोग में लेता है।

- क्षुल्लक पाणिपात्र या पात्र में भी भोजन कर लेता है परन्तु ऐलक, साधु के समान पाणिपात्र में ही भोजन करता है। वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है कि क्षुल्लक, एक बार बैठ कर भोजन करता है, किन्तु पर्वों में नियम से उपवास करता है। **वसुनन्दि श्रावकाचार,** श्लोक 303

- वह क्षुल्लक, संयम की इच्छा करता हुआ, अपने भोजन के पात्र को धोने आदि के कार्य में अपने तप और विद्या आदि का गर्व नहीं करता हुआ, स्वयं ही यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करे, नही ंतो बड़ा भारी असंयम होता है। **सागार धर्मामृत,** 7/44

- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में महापुराण के उद्धरण से यह सिद्ध किया है कि भगवान ऋषभदेव, अपने पाँचवें पूर्वभव राजा सुविधि के भव में अपने पुत्रमोह के कारण गृहस्थ अवस्था का त्याग नहीं कर पाये थे, परन्तु वे घर में रह कर ही श्रावक के उत्कृष्ट पद में रह कर, कठिन तपस्या करते थे। लेकिन इस उद्धरण में उत्कृष्ट श्रावक का अर्थ क्षुल्लक करना उचित नहीं है, क्योंकि अनुमतित्याग प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक होते हुए भी घर में रह सकता है। जबकि रत्करण्ड श्रावकाचार एवं सागार धर्मामृत के सन्दर्भों से यह सिद्ध है कि ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक गृहत्यागी ही होता है।

  गृहतो मुनिवनमित्वा.....इत्यादि पाठ – **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 147 एवं
  वसेन्मुनिवने नित्यम्.....इत्यादि पाठ – **सागार धर्मामृत,** श्लोक 7/47

- यदि क्षुल्लक को किसी साधर्मी से जल, चन्दन, अक्षत आदि अष्ट द्रव्य सामग्री मिल जाती है तो वह भी प्रसन्नतापूर्वक अरहन्तदेव या सिद्धपरमेष्ठी या साधुपरमेष्ठी की पूजा कर सकता है। **लाटी संहिता,** 7/69

- क्षुल्लक श्रावकों के भी कितने ही भेद हैं – कोई साधक क्षुल्लक होते हैं, कोई गूढ़ क्षुल्लक होते हैं, कोई वानप्रस्थ क्षुल्लक होते हैं। ये तीनों ही क्षुल्लक, क्षुल्लक के समान वेष धारण करते हैं, क्षुल्लक की क्रियाओं का पालन करते हैं, न तो अत्यन्त कठिन व्रतों का पालन करते हैं और न अत्यन्त सरल, मध्यम स्थिति के व्रतों का पालन करते हैं, पंचपरमेष्ठी की साक्षीपूर्वक व्रतों को ग्रहण करते हैं। इन तीनों के क्षुल्लकों में परस्पर विशेष भेद नहीं है। इनमें से जिन्होंने क्षुल्लक के व्रत नहीं लिये हैं, किन्तु व्रत धारण करना चाहते हैं, वे उन व्रतों का अभ्यास करते हैं। तथा जिन्होंने व्रतों को पालन करने का पूर्ण अभ्यास कर लिया है, वे साहसपूर्वक उन व्रतों को ग्रहण कर लेते हैं तथा कोई कातर और असाहसी ऐसे भी होते हैं, जो व्रतों को ग्रहण नहीं करते, किन्तु घर वापस चले जाते हैं। **लाटी संहिता,** 7/69

- क्षुल्लक, गुरु से दीक्षा लेते हैं, उनके सान्निध्य में रहते हैं, उनकी तथा अन्य संघ के साधओं की वैयावृत्ति करते हैं, साधु.सेवा ही उनका व्रत होता है, स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं तथा आत्म.चिन्तन द्वारा अपने को सन्मार्ग पर स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं।

  यदि दीक्षादायक साधुजन के अभाव में इस व्रती ने भगवान तीर्थंकर की प्रतिमा या आगम ग्रन्थ के सन्मुख दीक्षा ली हो तो भी उसे अन्य व्रती या प्रतिमाधारियों के साथ ही रहना चाहिए, स्वतन्त्र विचरण नहीं करना चाहिए। स्वतन्त्र अकेले विचरण करने का तो साधु को भी निषेध किया गया है क्योंकि अकेले विहार करने पर सत्संगति के अभाव में और उपसर्ग.परीषहों पर विजय न कर सकने की स्थिति में मार्ग से च्युत हो जाने की सम्भावना आचार्यों ने की है; अतः संघ में रहने का आदेश दिया है।

  संघ में रहते हुए अन्य व्रतियों की धर्मसेवा करना, वह अपना कर्तव्य समझता है। वह व्रतियों की रोगी अवस्था में, असहाय अवस्था में, पीड़ित अवस्था में, उनकी शारीरिक सेवा भी करता है, धर्म.साधन में सहायता करता है।

  समाधिमरण आदि अवस्था में अपने धर्म.साधन की क्रियाओं में हानि हो जाने पर भी समाधिगत साधु या श्रावक की सेवा कर, उसे समाधि में स्थिर करता है, उस कर्तव्य को वह उस काल में सर्वश्रेष्ठ मानता है, क्षुल्लक व्रती की यह प्रक्रिया है। **श्रावकधर्मप्रदीप,** पृष्ठ 226

ऐलक पद की विशेषताएँ

- ''जो उत्कृष्ट श्रावक, मात्र कोपीन (लंगोटी) धारण करते हैं; दाढ़ी, मूँछ एवं सिर के बालों का केशलोंच दो से चार माह के बीच करते हैं, मुनि की तरह पीछी रखते हैं और पाणिपात्र में भोजन करते हैं; वे ऐलक कहलाते हैं।
- ऐलक की आर्य संज्ञा है। क्षुल्लक की तुलना में ऐलक की कर्म.निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक होती है।
- ऐलक शब्द की उत्पत्ति 'अचेलक' शब्द से मानी जा सकती है। अचेलक शब्द में से 'च्' वर्ण का लोप हो जाने पर 'ऐलक' शब्द बना है। अचेलक शब्द का अर्थ 'सर्वथा वस्त्ररहित' भी हो सकता है और 'ईषत् चेलसहित या ईषत् वस्त्रसहित' भी किया हो सकता है। **वसुनन्दि श्रावकाचार,** प्रस्तावना, पृष्ठ 63
- मात्र कोपीन धारण करने के कारण मुनियों के समान सर्दी, गर्मी, वर्षा, मक्खी, मच्छर आदि की सम्पूर्ण बाधाएँ अपने खुले शरीर पर झेलते हैं।
- यद्यपि ये उपसर्ग.परीषहों की बाधाओं को सहन करने में कायरता नहीं दिखाते, उन्हें प्रीतिपूर्वक सहन करते हैं; तथापि बुद्धिपूर्वक वे उपसर्ग.परीषहों की प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करते।
- आहार.विधि के अन्तर्गत यदि कोई श्रावक, मध्यम नवधा भक्तिपूर्वक आहार दे तो बैठ कर, अपने करपात्र में ही लेते हैं। भोजन का पात्र न अपने पास ही रखते हैं, न ही श्रावक के पास ही रखते हैं।
- इनके अनेक.गृह.भिक्षा.वृत्ति का उल्लेख नहीं है। वे केवल एक घर में ही आहार लेकर आ जाते हैं तथा आहार के बाद गुरु को सब प्रक्रिया निवेदन करते हैं तथा दिया हुआ प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं। वे इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि आहार शुद्ध है, प्रासुक है तथा कोई अन्तराय योग्य वस्तु का उसमें समागम तो नहीं है – ये एषणा समितिपूर्वक देख.शोध कर आहार ग्रहण करते हैं।
- दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण – इनको ऐलक नियम से करते हैं।
- ऐलक, चातुर्मास में एक ही स्थान पर रहते हैं। साधारणतः चातुर्मास में एक स्थान पर रहने का नियम सभी गृह.त्यागियों का होता है। यदि साधारण गृहस्थ भी धर्मसाधना के निमित्त ऐसा व्रत लेना चाहें तो ले सकते हैं।
- यह ऐलक पदधारी श्रावक का लघुभ्राता कहा जाता है। इसी कारण इनकी अधिकांश क्रियाएँ मुनियों के समान होती हैं। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि मुनियों और ऐलकों में मात्र कोपीन का अन्तर होता है।
- यद्यपि ऐलक पदधारी श्रावक, श्रावक पद में स्थित होता है; तथापि श्रावक अवस्था की अन्तिम सीढ़ी होने के कारण इनके कदम महाव्रत की मर्यादा में भी पड़ने लगते हैं। इसी कारण ये समिति, गुप्ति आदि मुनियों के लिए उचित क्रियाओं का भी अभ्यास करते हैं।
- यद्यपि ये पीछी.कमण्डलु तथा पुस्तक आदि धर्मोपकरणों को धारण करते हैं; तथापि वे थोड़े भी आरम्भ के कारणभूत पदार्थों को अपने पास नहीं रखते।
- यद्यपि ये मुनिसंघों में अथवा किसी मुनिराज के समीप वन में रहते हैं; तथापि इनके चैत्यालय, मठ अथवा किसी भी निर्दोष और शुद्ध स्थान में रहने का निषेध नहीं है।
- ये रात्रि में मुनि की तरह नग्न होकर ध्यान कर सकते हैं, पर दिन में नहीं; प्रकारान्तर से उनकी रात्रि में मुनिवृत्ति और दिन में ऐलकवृत्ति रहती है।
- यह पद बाह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – इन तीन वर्णों में ही धारण किया जा सकता है।
- यह श्रावक, बिना किसी लाग.लपेट या छल.कपट के निःस्वार्थ भाव से मोक्ष का कारणभूत धर्मोपदेश देता है तथा स्वाध्याय, ध्यान, धर्मप्रभावना आदि कार्यों में अपने समय का सदुपयोग करता है।

- कालान्तर में अथवा अन्त में कोपीन मात्र वस्त्र का त्याग करके ये ऐलक मुनिव्रत अंगीकार करते हैं क्योंकि श्रावकव्रत की समाप्ति तो ऐलक पद में ही हो जाती है।

लाटी संहिता, 7/55–62; देखें, **वसुनन्दि श्रावकाचार,** 301–311 एवं **सागार धर्मामृत,** 7/48–49 के आधार पर

ग्यारह प्रतिमाओं में स्त्रियों का स्थान

''पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी उक्त ग्यारह प्रतिमाओं का यथायोग्य पालन कर सकती हैं। कदाचित् उनकी अवस्था के अनुसार कुछ भेद/अपवाद भी सम्भव होते हैं। जैसे,

- छठी प्रतिमा में रात्रिभोजन का त्याग, कृत.कारित.अनुमोदना से होता है; अतः जिस स्त्री की गोद में दूध पीता बच्चा है, उसे रात्रि में भी बालक को दूध पिलाना पड़ेगा, अतः उसके द्वारा इस प्रतिमा का पालन करना सम्भव नहीं है; ऐसी स्त्री को छठी प्रतिमा को लेना भी नहीं चाहिए।
- इसी प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा के जिस प्रकार पुरुषों में क्षुल्लक और ऐलक, दो भेद माने गये हैं; वैसे दो भेद स्त्रियों में नहीं होते। अतः स्त्रियों में एक मात्र क्षुल्लिका का ही पद माना गया है।
- यद्यपि स्त्रियों में आर्यिका का पद भी पंचम गुणस्थान के अन्तर्गत ही माना गया है। तदनुसार निश्चय से उनको देशसंयम ही होता है, तथापि व्यवहार में आर्यिका को उपचार से महाव्रती माना गया है; अतः उनका स्थान उत्कृष्ट श्राविका का न होकर साधु के समान हो जाता है, जिसे दिगम्बर आम्नाय में 'आर्यिका' नाम से जाना जाता है। आगम में आर्यिका के स्वरूप का विस्तार से वर्णन मिलता है।''

श्रावकधर्मप्रदीप, पृष्ठ 230 के आधार पर

आर्यिका की विशेषताएँ

- ''आप्टे कृत संस्कृत हिन्दी शब्दकोश के अनुसार आर्यिका शब्द का अर्थ 'आदरणीय महिला' किया गया है। जबकि दिगम्बर मान्यता के अनुसार स्त्रियों में सर्वोत्कृष्ट व्रताचरण करने वाली स्त्री को आर्यिका शब्द से सम्बोधित किया जाता है।
- यही कारण है कि श्रावकों में उत्कृष्ट आचरण करने वाले ऐलक को आर्य और श्राविकाओं में उत्कृष्ट आचरण करने वाली महिला को आर्यिका की संज्ञा दी जाती है।
- दर्शनपाहुड़ के अनुसार जिनमार्ग में आर्यिका का तृतीय स्थान माना गया है। उसमें प्रथम स्थान जिनदेव अर्थात् मुनि का, दूसरा स्थान उत्कृष्ट श्रावक अर्थात् क्षुल्लक.ऐलक का, एवं तीसरा स्थान स्त्री अर्थात् आर्यिका का बताया है। चौथा कोई भी लिंग जैनदर्शन को मान्य नहीं है। कहा है –

एगं जिणस्स रूवं, बिदियं उक्किट्ठसावयाणं।

अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।। 18।।

– अष्टपाहुड़, दर्शनपाहुड़, गाथा 18 के आधार पर

- जिस प्रकार मुनिसंघ में मुनिगण, आचार्य की आज्ञा का पालन करते हैं; उसी प्रकार आर्यिकासंघ में आर्यिकाएँ अपनी गणिनी की आज्ञा का पालन करती हैं।
- आर्यिकासंघ की प्रमुख गणिनी आर्यिका होती हैं, परन्तु वे भी प्रतिक्रमण आदि के विषय में आचार्य की आज्ञा का ही पालन करती हैं। आर्यिकाओं के आचार्य कैसे होते हैं? उनकी 13 विशेषताओं को मूलाचार में वर्णित किया गया है – ''1. जो धर्म के प्रेमी हैं, 2. धर्म में दृढ़ हैं, 3. संवेगभाव सहित हैं, 4. पाप से भयभीत हैं, 5. शुद्ध आचरण वाले हैं, 6. शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह में कुशल हैं, 7. हमेशा ही पापक्रिया की निवृत्ति से युक्त हैं, 8. गम्भीर हैं, 9. स्थिरचित्त हैं, 10. सीमित बोलने वाले हैं, 11.

किंचित् कुतूहल करते हैं, 12. चिरदीक्षित हैं, 13. तत्त्वों के ज्ञाता हैं – ऐसे मुनि, आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं। वही कहा है –

पियधम्मो दढ़धम्मो, संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो, सददं सारक्खणाजुत्तो।।183।।

गंभीरो दुद्धरिसो, मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो, अज्जाणं गणधरो होदि।।184।।

– **मूलाचार,** आचार्य वट्टकेर, 183.184

- मूलाचार में ही और भी स्पष्टतया प्रतिपादन करते हुए कहा है कि यदि उक्त गुणों से रहित आचार्य, आर्यिकाओं का आचार्यत्व करता है तो उसके द्वारा चार कालों – गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ अथवा दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण और आत्मसंस्कार; इनकी विराधना होती है अथवा वह चार प्रकार के प्रायश्चित्त – छेद, मूल, परिहार और पारंचिक; इनके योग्य होता है तथा उसके द्वारा गच्छ अर्थात् संघ की भी विराधना हो जाती है।।185।।
- आर्यिकाएँ, परस्पर में मात्सर्य भाव को छोड़ कर, एक दूसरे के अनुकूल रहती हैं। परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहती हैं। क्रोधभाव, वैरभाव और मायाचार से रहित होती हैं। लज्जा, मर्यादा और अपने कुलों के अनुरूप आचरण करने में तत्पर रहती हैं।।188।।
- आर्यिकाएँ, निरन्तर शास्त्रों को पढ़ने, सुनने, कहने, पाठ करने में; अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में; तप, विनय, संयम आदि में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं।।189।।
- आर्यिकाएँ, विकार रहित वस्त्र और वेश को धारण करने वाली, पसीनायुक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुई शरीर संस्कार से शून्य रहती हैं तथा धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या को करती हैं।।190।।
- आर्यिकाओं के योग्य वसतिका, गृहस्थों के साथ नहीं होती; उसमें चोर आदि दुराचारियों के आवागमन से रहित होती है; जिसमें हवा, प्रकाश आदि का विशुद्ध संचरण होता रहता है – ऐसी वसतिका में आर्यिकाएँ, दो, तीन, चार आदि अनेकों की संख्या में रहती हैं। तात्पर्य यह है कि आर्यिका के अकेले रहने का निषेध है।।191।।
- आर्यिकाओं के लिए गृहस्थों के घर एवं यतियों की वसतिकाएँ परगृह कहलाती हैं। वे बिना प्रयोजन किसी परगृह में नहीं जातीं। यदि आर्यिकाओं को भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के यहाँ तथा प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, वन्दना आदि आवश्यक कार्य हेतु मुनियों की वसतिका मे जाने का प्रसंग बने तो वे गणिनी से पूछ कर, अन्य आर्यिकाओं को साथ लेकर ही जाती हैं।।192।।
- आर्यिकाओं को अपनी वसतिका में अथवा परगृह में दुःख से पीड़ित होकर रोना, बच्चों को नहलाना, धुलाना, खिलाना, भोजन पकाना, सूत कातना, षट्कर्म अर्थात् असि, मसि, कृषि, शिल्प, विद्या और वाणिज्य के आरम्भ, यतियों के पैरों में तेल आदि से मालिश करना, चरणों का प्रक्षालन करना, गीत गाना आदि क्रियाओं को नहीं करना चाहिए।।193।।
- मूलाचार में लिखा है कि तीन, पाँच या सात आर्यिकाएँ, परस्पर रक्षा में तत्पर होती हुई, वृद्धा आर्यिकाओं के साथ मिल कर, हमेशा आहार के लिए निकलती हैं। यहाँ आहार शब्द उपलक्षण मात्र है। तात्पर्य यह है कि आर्यिकाएँ, जब भी देववन्दना, गुरुवन्दना, आहार, विहार, नीहार आदि किसी भी प्रयोजन से बाहर जावें तो दो.चार जन मिल कर, वृद्धा आर्यिकाओं के साथ ही जावें।।194।।

- आर्यिकाएँ, आचार्य के पास आलोचना करती हैं, अतः उनकी वन्दना के लिए पाँच हाथ के अन्तराल पर गवासन से बैठ कर उन्हें नमस्कार करती हैं। उपाध्याय के पास अध्ययन करती हैं, अतः उन्हें छह हाथ के अन्तराल से नमस्कार करती हैं तथा साधु की स्तुति करनी होती है, अतः उन्हें सात हाथ के अन्तराल से नमस्कार करती हैं; अन्य प्रकार से नहीं। इस प्रकार यह क्रमभेद, आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।।195।।

मूलाचार, आचारवृत्ति, गाथा 183–195 के आधार पर

आर्यिकाओं के साथ आचार्य एवं संघस्थ अन्य मुनियों का परस्पर व्यवहार

- आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिए; उसी प्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप आदि भी नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना ठीक भी है। यहाँ आर्यिकाओं के साथ सम्पूर्ण स्त्री जाति का ग्रहण कर लेना चाहिए।।177।।
- धर्मकार्य के सम्बन्ध में भी अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर न देवे। यदि कोई आर्यिका, गणिनी को आगे करके पूछती है तो फिर मुनि उसका उत्तर, धर्मप्रभावना की दृष्टि से दे भी सकते हैं।।178।।
- यदि कोई तरुण मुनि, तरुणी आर्यिका या अन्य तरुणी स्त्री के साथ कथा, संलाप, हँसी, वचनालाप आदि करे तो उसे आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्व.आराधना, आत्मनाश, और संयम.विराधना – ये पाँचों ही दोष लगते हैं।।179।।
- आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों का रहना, वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा व कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ करना युक्त नहीं है, बल्कि निषिद्ध हैं। बहुत काल तक की जाने वाली क्रियाएँ तो वहाँ निषिद्ध हैं ही, अल्पकालिक क्रियाएँ भी निषिद्ध हैं क्योंकि काम से मलिन.चित्त श्रमण, स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है। ऐसा मुनि, कन्या, विधवा, स्वेच्छाचारिनी, रानी, तपस्विनी आदि का आश्रय लेकर तत्काल ही अपवाद को प्राप्त हो जाता है।।180.182।।

मूलाचार, आचारवृत्ति, गाथा 177–182 के आधार पर

आर्यिकाओं के सम्बन्ध में विशेष कथन

आर्यिकाओं का पाँचवाँ गुणस्थान होता है, तदनुसार उनका भाव संयमासंयमरूप ही होता है। यद्यपि आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती माना गया है क्योंकि स्त्री पर्याय में इससे अधिक विशुद्ध अवस्था का होना सम्भव नहीं है, वह अपने सामर्थ्य की हद को पहुँच कर व्रतों का धारण करती है; तथापि वास्तव में उनके महाव्रत होना सम्भव नहीं है क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ''वस्त्रधारी को महाव्रती नहीं माना जा सकता और न ही वस्त्रसहित मुक्ति मानी जा सकती है। स्त्री भले ही आर्यिका ही क्यों न हो, उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती; अतः उसे वास्तव में महाव्रती भी माना नहीं गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द तो सूत्रपाहुड़ में उनके लिंग को तीसरा लिंग मानते हुए भी उनकी दीक्षा को दीक्षा ही नहीं मानते हैं क्योंकि उनके शरीर के अनेक स्थानों में निरन्तर जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। साथ ही उनको ध्यान भी नहीं माना गया है क्योंकि उनको मासिकधर्म होता है, अतः उनके परिणामों उग्र पुरुषार्थ सम्भव नहीं है। इतना कहने के उपरान्त भी वे कहते हैं कि यदि स्त्री, दर्शन से शुद्ध हो तो वह पापरहित है, भली है।

अष्टपाहुड़, सूत्रपाहुड़, गाथा 23–26

अष्टपाहुड़ में सूत्रपाहुड़ की मूल गाथाएँ निम्न प्रकार हैं –

लिंगं इत्थीण हवदि, भुंजइ पिंड सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था, वत्थावरणेण भुंजेदि ।। 22।।

ण वि सिज्झदि वत्थधरो, जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ।। 23।।

लिंगम्मि य इत्थीणं, थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहुमो काओ, तासिं कह होइ पव्वज्जा।। 24।।

जइ दंसणेण सुद्धा, उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता ।
घोरं चरिय चरित्तं, इत्थीसु ण पव्वया भणिया ।। 25।।

चित्तासोहि ण तेसिं, ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।
विज्जदि मासा तेसिं, इत्थीसु ण संकया झाणा ।। 26।।

अर्थात् स्त्रियों का तीसरा लिंग इस प्रकार है – आर्यिका एक काल में भोजन करे, बार.बार भोजन न करे, एक वस्त्र ही धारण करे और भोजन करते समय भी वस्त्र के आवरण सहित रहे, नग्न नहीं हो।। 22।।

जिनशासन में इस प्रकार कहा है कि वस्त्र को धारण करने वाला सीझता नहीं है, मोक्ष नहीं पाता है। यदि तीर्थंकर भी हो तो जब तक गृहस्थ रहे, तब तक मोक्ष नहीं पाता है; दीक्षा लेकर दिगम्बररूप धारण करे, तब मोक्ष पावे क्योंकि नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।। 23।।

स्त्रियों के लिंग अर्थात् योनि में, स्तनान्तर अर्थात् दोनों कुचों के मध्य प्रदेश में, कक्ष अर्थात् दोनों काँखों में तथा नाभि में सूक्ष्मकाय अर्थात् दृष्टि के अगोचर जीव कहे हैं; इस प्रकार स्त्रियों के प्रव्रज्या अर्थात् महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो ?

स्त्रियों में जो स्त्री, दर्शन अर्थात् जिनमत की श्रद्धा से शुद्ध है, वह भी मार्ग से संयुक्त कही गई है। जो घोर चारित्र, तीव्र तपश्चरण आदि आचरण से पापरहित होती है, इसलिए उसे पापयुक्त नहीं कहते हैं। (भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कहते हैं कि स्त्रियों में जो स्त्री सम्यक्त्व सहित हो और तपश्चरण करे तो पापरहित होकर स्वर्ग को प्राप्त हो, इसलिए प्रशंसा करने योग्य है, स्त्रीपर्याय से मोक्ष नहीं है।)

स्त्रियों के चित्त की शुद्धता नहीं होती है, स्वभाव से ही उनका ढ़ीला भाव होता है, शिथिल परिणाम होता है, तथा उनको प्रतिमास रुधिर का स्राव होता है, उसकी शंका बनी रहती है; अतः स्त्रियों को ध्यान नहीं होता है। (भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कहते हैं कि ध्यान के बिना केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो और केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं है।)

यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द ने स्त्रियों की दीक्षा का निषेध किया है, उससे यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार आर्यिकाओं में उपचार से महाव्रत माने जाते हैं; उसी प्रकार उनकी दीक्षा को भी उपचार से मानने में कोई दोष नहीं है। प्रवचनसार की आचार्य जयसेन कृत टीका में कहा है कि ''वे स्त्रियाँ, जिनदीक्षा ग्रहण करके विशेष तपश्चरण के द्वारा सोलहवें स्वर्ग में जाकर, पुनः वहाँ से आकर पुरुषवेद प्राप्त करके मोक्ष जाएँगी;''[186] अतः इस अपेक्षा उनकी भी दीक्षा को उपचार से मान्यता प्रदान की गई है।

क्षुल्लिका की विशेषताएँ[187]

- हम कह सकते हैं कि जो अन्तर ऐलक और क्षुल्लक में होता है, वही अन्तर आर्यिका और क्षुल्लिका में होता है क्योंकि जिनागम में ऐलिका नाम के किसी पद की सम्भावना नहीं मानी गई है।
- क्षुल्लिका को भी ग्यारहवीं प्रतिमाधारी मानी जाती है। उसकी सारी क्रियाएँ क्षुल्लक के समान होती हैं। इसी प्रकार क्षुल्लिका के समस्त भेद.प्रभेद भी क्षुल्लक के समान समझना चाहिए।
- क्षुल्लिका को अपने से वरिष्ठ आर्यिकाओं के पास रहना चाहिए। मासिक धर्म की कठिनाई के समय, अन्य श्राविकाओं के घर पर भी रह सकती हैं, कठिनाई दूर होने पर पुनः संघ में आ जावें। अथवा संघ में योग्य द्रव्य.क्षेत्र.काल.भाव की अनुकूलता हो तो वहाँ रह कर भी उनका निर्वाह हो सकता है।

- क्षुल्लिका, सोलह हाथ की एक धोती तथा एक ओढ़ने के वस्त्र का ही प्रयोग करती है जबकि आर्यिका अवस्था में केवल एक धोती मात्र का ही प्रयोग होता है।
- क्षुल्लिकाएँ अपने पास शुद्धि निमित्य तत्सम दूसरी धोती भी रख सकती है, परन्तु वे एक समय में एक का ही प्रयोग करती हैं।
- क्षुल्लिकाओं को भी परस्पर 'इच्छामि' या 'इच्छाकार' के द्वारा सम्बोधन करना चाहिए। इस शब्द का अर्थ है कि जैसे आपको मुनिपद की भावना है, वैसे हमें भी मुनिपद की भावना है।

साधक श्रावक

जीवन के अन्त में आहारादि का सर्वथा त्याग कर सल्लेखना द्वारा आत्मसाधना करना, साधन है। इस प्रकार के साधन को अपनाते हुए ध्यानशुद्धिपूर्वक आत्मशोधन करने वाला साधक श्रावक कहलाता हैं।

डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य; **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, पृष्ठ 51

''श्रावक के बारह व्रतों में समाधिमरण को भी एक व्रत के रूप में किन्हीं आचार्यों ने गिनाया है। शिक्षाव्रतों में अन्तिम चतुर्थ व्रत समाधिमरण को गिनाया गया है। जबकि किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने सभी व्रतियों और अव्रतियों को भी इसकी आवश्यकता वर्णित की है क्योंकि वास्तव में अव्रती पाक्षिक श्रावक की भी यही इच्छा रहती है कि उसका मरण अच्छी तरह समाधिपूर्वक हो। यही कारण है कि श्रावक के तीन प्रकार बताये गये हैं; उनमें साधक श्रावक का एक स्वतन्त्र भेद बताया गया है। समाधि की निरन्तर भावना रख कर, उसके प्रति निरन्तर प्रयत्न करने वाले व्रती श्रावक को ही साधक संज्ञा दी जा सकती है।

इस जीव का मरण किसी भी समय किसी भी कारण से आ सकता है; वह कोई उपसर्ग भी हो सकता है, कोई बीमारी भी हो सकती है, कोई दुर्घटना भी हो सकती है; उस समय अपने परिणामों को सम्हाल कर समभाव पूर्वक समाधि की साधना कर लेना ही पुरुषार्थी का लक्षण है। जो सम्पूर्ण जीवन में ऐसी भावना रख कर जीवनचर्या करते हैं, उन्हें यह कठिन नहीं भी है। वे मरण समय को जान कर तत्काल अन्नाहार आदि का त्याग कर निःकषायभाव की आराधना करके शरीर का त्याग करते हैं। हम कह सकते हैं कि जिसने जीवन भर व्रत किया और अन्त समय समाधि का साधन नहीं किया, उसने जीवन भर कमाई हुई संपत्ति को उपयोग करने से पूर्व ही कुए में डाल दिया – ऐसा समझ कर इस व्रत या साधना का पालन अवश्य करना चाहिए। पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी इस व्रत का पालन कर सकती हैं।

इस प्रकार जिनका मरण होता है; उनकी कुगति नहीं होती है। अव्रती श्रावक से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा एवं मुनिपद तक अपनी अपनी योग्यता एवं द्रव्य.क्षेत्र.काल.भाव के अनुसार यह साधना की जाती है।

समाधि के समय करने योग्य कार्यों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं –

- समाधिमरण स्वीकार करने के बाद सबसे ममत्व त्याग कर द्वादश भावनाओं का विचार करना चाहिए।
- आरम्भ.परिग्रह को सर्वथा त्याग कर धर्मध्यान में अपना उपयोग लगाना चाहिए।
- सबके प्रति उत्तम क्षमा का भाव रख कर सबसे क्षमा.याचना करना चाहिए।
- किसी के प्रति राग.द्वेष बिल्कुल नहीं करना चाहिए।
- किसी भी वस्तु के प्रति वांछा का भाव नहीं रखना चाहिए।
- शरीर में कम्पन, उच्छ्वास, नेत्रों को खोलन, बन्द करना आदि क्रियाएँ नहीं करना चाहिए।
- अपने चित्त को लोक के ऊपर विराजमान सिद्धों के प्रति एकाग्र करना चाहिए।''

श्रावकधर्मप्रदीप, पृष्ठ 229–230; चारित्रसार, 41/2 के आधार पर

महापुराण एवं सागार धर्मामृत में कहा है – ''जो श्रावक आनन्दित होता हुआ, जीवन के अन्त में अर्थात् मृत्यु समय शरीर, भोजन और मन.वचन.काय के व्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि का साधन करता है, वह साधक श्रावक कहलाता है।''[190]

महापुराण, 39/149; **सागार धर्मामृत,** 1/19–20/8 के आधार पर

क्षुल्ल्क जिनेन्द्र वर्णी लिखते हैं – ''अतिवृद्ध या असाध्य रोगग्रस्त हो जाने पर अथवा अप्रतिकार्य उपसर्ग आ पड़ने पर अथवा दुर्भिक्ष आदि के होने पर साधक साम्यभाव पूर्वक अन्तरंग कषायों का सम्यक् प्रकार दमन करते हुए भोजन आदि का त्याग करके, धीरे धीरे शरीर को कृश करते हुए इसका त्याग कर देते हैं। इसे ही सल्लेखना या समाधिमरण कहते हैं। यह समाधिमरण, सम्यग्दृष्टिजनों को यथार्थतः सम्भव होने से इसे पण्डितमरण भी कहते हैं।

शरीर के प्रति जो स्वभाव से ही उपेक्षित हैं – ऐसे **श्रावक व साधु** को ऐसे अवसरों पर अथवा आयु पूर्ण होने पर इसी प्रकार की वीरता से शरीर का त्याग करना योग्य है। इसे आत्महत्या या आत्मघात कहना अनभिज्ञता का सूचक है।'' क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 380

तत्त्वार्थसूत्र में सल्लेखना का स्वरूप बताते हुए कहा है –

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।। 7/22।।

अर्थात् जीवन के अन्त में मरण के समय होने वाली सल्लेखना को उत्साहपूर्वक करना चाहिए।

यह सूत्र गृहस्थों के बारह व्रतों के व्याख्यान के बाद आने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थ श्रावक भी सल्लेखना या समाधिमरण कर सकता है, वह भी इसके योग्य है। मुनि या श्रावक के व्रतों के साथ उत्साहपूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ साधक, मरण समय निकट जान कर, समाधिपूर्वक मरना चाहता है तो वह सल्लेखनाव्रत धारण करता है। भले प्रकार से काय और कषाय का कृश करना, **सल्लेखना** है। इस समय साधक साधर्मियों या कुटुम्ब आदि से ममत्व घटा कर अन्त में देह आहार और ईहित का त्याग करते हुए आत्मध्यान में अपने को जुटाता है। यह व्रत, मरण से पूर्व मरणपर्यन्त के लिए लिया जाता है, इसी कारण इसे **मारणान्तिकी सल्लेखना** भी कहा गया है। यह व्रत, मुनि और श्रावक दोनों के लिए बतलाया है।

राजवार्तिक में सल्लेखना की विशेषरूप से दो विशेषताओं का उल्लेख किया गया है –

1. जो मरणविशेष अर्थात् समाधिमरण को सम्पन्न करने में समर्थ है।
2. जो बिना किसी की प्रेरणा के स्वयं अपने मन में धारण की जाती है।

तत्त्वार्थवार्तिक, 7/37 की उत्थानिका के आधार पर

शंका – इस व्रत का धारी व्यक्ति क्रम से आहार.पानी का त्याग करके शरीर का विसर्जन करता है, यह तो स्ववध ही है और स्ववध तथा आत्मघात में कोई अन्तर नहीं है, अतः इसे व्रत मानना उचित नहीं है?

समाधान – राग द्वेष या मोहवश विष शस्त्र आदि से अपना नाश करना, स्ववध है। जबकि यह बात सल्लेखना में नहीं देखी जाती, इसलिए इसे स्ववध मानना उचित नहीं है। सल्लेखनाव्रत तभी लिया जाता है, जब लेने वाला अन्य कारणों से अपने जीवन का अन्त निकट भविष्य में समझ लेता है।

जैसे, व्यापारी अपने माल की हर प्रकार से रक्षा करता है और उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जाने पर वह उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वह सबकी रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाता है तो उसमें जो बहुमूल्य वस्तु होती है, उसकी सर्वप्रथम रक्षा करता है।

इसी प्रकार मुनि अथवा गृहस्थ भी व्रत और शील के समुचित रीति से पालन करने के लिए शरीर का नाश नहीं करना चाहता, उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न भी करता है। इतने पर भी यदि वह

देखता है कि मैं शरीर की रक्षा नहीं कर सकता तो वह अपने आत्मा की उत्तम प्रकार से रक्षा करते हुए अर्थात् आत्मा को राग द्वेष और मोह से बचाते हुए शरीर का त्याग करता है। इसलिए इस सल्लेखनाव्रत को स्वहिंसा नहीं माना जा सकता।

शंका – जलसमाधि अग्निपात आदि अनेक प्रथाएँ अन्य सम्प्रदायों में प्रचलित हैं; उनमें और सल्लेखना में क्या अन्तर है?

समाधान – जब यह निश्चय हो जाता है कि मेरा मरण अतिनिकट है, तब सल्लेखनाव्रत लिया जाता है, वह भी शरीर आदि बाह्य पदार्थों से राग द्वेष और मोह को कम करने के लिए ही लिया जाता है, केवल अकाल में मरने के लिए नहीं; किन्तु यह बात जलसमाधि अग्निपात आदि प्रथाओं में नहीं देखी जाती। इसलिए उनमें और सल्लेखना मे बड़ा भारी अन्तर है।

सल्लेखना स्पष्टतः आत्मशुद्धि का एक प्रकार है, जबकि जलसमाधि आदि स्पष्टतः आत्मघात हैं क्योंकि वे मरण काल को निकट जान कर नहीं किये जाते। यद्यपि उसमें भी अर्पण की भावना काम करती है, लेकिन मात्र उतने कारणों से जलसमाधि आदि के द्वारा आत्मघात करना उचित नहीं है। अन्त में दुर्ध्यान से बचाने की उसमें कोई व्यवस्था नहीं है, जबकि सल्लेखना में इसका पूर्णतः ध्यान रखा जाता है, योग्य निर्यापक के मार्गदर्शन में ही सल्लेखना ली जाती है। हम यह कह सकते हैं कि सल्लेखना आत्मघात तो है ही नहीं बल्कि आत्मघात से बचाने की अमोघ औषधि है। सल्लेखना के बिना आत्मघात के समान पीड़ा होने की सम्भावना अवश्य होती है।

समाधिमरण की विधियाँ

समाधिमरण की मुख्यतः तीन विधियाँ आगम में वर्णित हैं – 1. भक्तप्रत्याख्यान विधि, 2. इंगिनीमरण विधि, 3. प्रायोपगमन विधि। इन विधियों का उल्लेख मुख्यतः मुनियों के प्रकरण में वर्णित किया गया है। विस्तार के लिए श्रमणाचार के अध्याय का अवलोकन करें। देखें, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 386

श्रावकों की मुख्यता से समाधिमरण विधि

आगम में समर्थ व असमर्थ, श्रावकों की समाधिमरण विधियों का उल्लेख अलग अलग प्राप्त होता है। जहाँ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, चारित्रसार, सागार धर्मामृत आदि में **समर्थ श्रावकों की विधि** का वर्णन मिलता है, वहीं भगवती आराधना, वसुनन्दि श्रावकाचार, सागार धर्मामृत आदि में **असमर्थ श्रावकों की विधि** का वर्णन प्राप्त होता है।

समर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि

- ''सल्लेखना धारण करने वाला शीत.उष्ण आदि में हर्ष.विषाद न करे।
- स्नेह, वैर, परिग्रह को छोड़ कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकर.चाकरों से भी क्षमा करावे और स्वयं भी उन्हें क्षमा करे।
- कृत.कारित.अनुमोदना सहित पूर्व में किये हुए समस्त पापों की आलोचना, छलकपट रहित होकर करके मरण पर्यन्त रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करे।
- शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता और अरति को त्याग करके तथा अपने बल और उत्साह प्रगट करके संसार के दुःखरूपी सन्ताप को दूर करने वाले अमृतरूप शास्त्रों के श्रवण से मन को प्रसन्न करे।

- क्रम.क्रम से आहार को छोड़ कर दुग्ध या छाछ को बढ़ावे और पीछे दुग्धादिक को छोड़ कर कांजी और गरम जल को बढ़ावे। तत्पश्चात् उष्ण जलपान का भी त्याग करके और शक्त्यनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मन्त्र को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़े।''

रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 124–128; **चारित्रसार,** 48/2; **सागार धर्मामृत,** 8/57, 64–67;
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ 387–388 के आधार पर

असमर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि

- ''असमर्थ श्रावकों को भी राग.द्वेष का त्याग, समता का धारण तथा परिजनों आदि से क्षमा आदि का करना तो यहाँ भी आवश्यक है।
- यह श्रावक, वस्त्रमात्र परिग्रह को रख कर और शेष समस्त परिग्रह को छोड़ कर, अपने ही घर में अथवा जिनालय में रह कर, गुरु के समीप में मन.वचन.काय की भले प्रकार आलोचना करके पान के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है।
- मृत्यु का समय निकट आने पर जब शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाए तो उसे जल का भी त्याग कर देना चाहिए।
- तात्पर्य यह है कि जो क्षपक, परीषह सहन करने में खूब समर्थ है, उसे चार प्रकार के आहार का और जो असमर्थ है, उसे तीन प्रकार के आहार का त्याग कराना चाहिए।
- बारह व्रतों को पालने वाले गृहस्थ को सहसा मरण आने पर, जीवित की आशा रहने पर, अथवा बन्धुओं ने जिसको दीक्षा की अनुमति नहीं दी है – ऐसे प्रसंग में जो श्रावक, शरीर.सल्लेखना और कषाय. सल्लेखना न करके भी आलोचना कर, निःशल्य होकर घर में ही संस्तर पर आरोहण करता है, उस गृहस्थ की मृत्यु को बाल.पण्डित.मरण कहते हैं।''

वसुनन्दि श्रावकाचार, 271–272; **सागार धर्मामृत,** 8/66; **भगवती आराधना,** 2083–2084;
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृष्ठ 280; **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 388, 393 के आधार पर

– सौ. स्वर्णलता राकेशकुमार जैन, नागपुर
मो. 937 300 58 01